विश्व की विभूतियाँ

लेखक
श्री हरिभाऊ उपाध्याय
श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, बी० एस-सी०, बी० टी०,

हिन्दी मन्दिर, प्रयाग

इसका उद्देश्य

मनुष्य के, खासकर विद्यार्थियों के, जीवन, चरित्रगठन व गुणविकास पर महापुरुषों के जीवन-चरित्रों का जितना असर होता है उतना उनके उपदेशों या नीति नियमों का नहीं। जीवन-चरित्र पढ़ने से जो प्रेरणा, बल व प्रत्यक्ष उदाहरण का पाठ मिलता है, वह दूसरे प्रकार की पुस्तकों से नहीं। जीवनियां पढ़ना मानो उन जीवित या मृत महापुरुषों की संगति से ही लाभ उठाना है। इस लाभ को ध्यान में रखकर ये जीवनियां लिखी गई हैं। विद्यार्थी इनसे ज्यादा लाभ उठा सकें, इस गरज़ से इनकी भाषा जहां सरल बनाने का यत्न किया है, वहां इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि इनके पढ़ लेने से उसका शब्द-भण्डार समृद्ध हो जाय। ये जीवनियां केवल विद्यार्थियों व उनके हित को ध्यान में रखकर ही लिखी गई हैं। अतः यदि उनमें यह पुस्तक प्रिय हुई तो और भी ऐसे जीवन-संग्रह लिखने का प्रयत्न किया जा सकेगा।

अजमेर

तिलक पुण्यतिथि — हरिभाऊ उपाध्याय

१९४५

नया संस्करण

प्रस्तुत पुस्तक का चौथा संस्करण पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। चार वर्ष में किसी भी पुस्तक के चार संस्करण हो जाना उस पुस्तक की लोकप्रियता का द्योतक है। हमें विश्वास है, आगे भी यह पुस्तक चाव से पढ़ी जायगी। महापुरुषों के जीवन-चरित्र सदा स्फूर्तिदायक होते हैं और इस दृष्टि से यह पुस्तक बेजोड़ है।

१५ अगस्त, १९४९ —प्रकाशक

विषय-सूची

विश्व की विभूतियां

: १ :

महात्मा गांधी

[मोहनदास करमचन्द गांधी]

"अपने राष्ट्र का एक ऐसा महान नेता, जिसे किसी भी बाह्य शक्ति से सहायता प्राप्त नहीं है, एक ऐसा राजनीतिज्ञ, जिसकी सफलता न तो बुद्धि-कौशल, योजनाओं पर बल्कि महज अपने व्यक्तित्व की विश्वासोत्पादक शक्ति पर निर्भर है, समझदारी और नम्रता की साकार प्रतिमा, निश्चय और अविचल दृढ़ता के हथियारों से सुसज्जित, एक ऐसा विजयी योद्धा जिसने सदैव पशुबल से घृणा की तथा अपनी सारी शक्ति राष्ट्र के उत्थान और कल्याण में लगा दी, एक ऐसा मनुष्य जिसने यूरोप की पशुता का मुकाबला एक सीधे-सादे मानव प्राणी की भांति किया और इस कारण जो सर्वदा के लिए उससे ऊपर उठ गया।

हो सकता है कि आने वाली पीढ़ियां इस बात पर कठिनाई से विश्वास करें कि इस प्रकार का कोई रक्त-मांस वाला पुरुष पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुआ होगा।" —आइन्सटिन

भावना, ज्ञान व कर्म इन तीनों के मेल से मनुष्य का जीवन परिपूर्ण होता है। *फिर भी हम देखते हैं कि किसीका जीवन भाव-प्रधान, किसीका ज्ञान या विचार-प्रधान व किसीका कर्म-प्रधान होता है। लेकिन महात्मा गांधी के जीवन में हम इन तीनों*

मानवी-गुणों का चरम विकास देखते हैं। उत्कट व निर्मल भाव, शुद्ध व सात्विक विचार तथा अविरत सेवामय व निष्काम कर्म उनके जीवन में बिखरे व निखरे दीखते हैं। इसीसे वह महात्मा व महापुरुष के पद को प्राप्त हुए हैं। जिस 'सत्याग्रह' नामक जीवन-सिद्धान्त का उन्होंने प्रचार किया, वह इन तीनों अवस्थाओं में ओत-प्रोत मिलता है।

बचपन से ही सत्यनिष्ठा

वैसे उनका जन्म २ अक्टूबर १८६६ ईसवी (अश्विन कृ० १२, संवत् १९२५) को काठियावाड़ के एक वैश्यकुल में हुआ। उनके पिता पोरबन्दर व राजकोट के एक तेजस्वी दीवान थे। बचपन में एक सत्यनिष्ठा को छोड़कर गांधीजी में ऐसी कोई विशेषता नहीं थी जिससे लोगों को उनके महापुरुष होने के कोई संकेत मिलता। विद्यार्थी-जीवन में लुक-छिपकर मांस खाने व उसके खर्चे के लिए सोने के कड़े का टुकड़ा बेचने की घटना उनकी सत्यनिष्ठा का परिचय देती है। मांस खा तो लिया परन्तु उन्हें ऐसा प्रतीत होता था मानों बकरा पेट में बें-बें कर रहा है। अन्त को पत्र लिखकर सारी कथा अपने पिताजी को सुना दी व क्षमा मांगी। तब जाकर उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। *इसी सत्यनिष्ठा ने आगे चलकर दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह को जन्म दिया।* गांधीजी इसे अपने जीवन का परम सिद्धान्त मानते थे। प्रेमपूर्वक सत्य की एकाग्रसाधना से जो बल उत्पन्न होता है, उसे उन्होंने सत्याग्रह कहा है।

हाई स्कूल तक की पढ़ाई काठियावाड़ में पढ़कर वह बैरिस्टरी के लिए इंग्लैण्ड गए। माता उनकी बड़ी धर्मनिष्ठ थीं। उन्होंने इनसे तीन प्रतिज्ञाएं कराईं, तब इंगलैंड जाने की अनुमति दी—(१) शराब न पीना। (२) मांस न खाना व (३) पर-स्त्री

को माता के समान समझना। गांधीजी की सत्यनिष्ठा का इस बात से भी पूरा प्रमाण मिलता है कि वहां उन्होंने इन बातों का अक्षरशः पालन किया। *पश्चिमी सभ्यता की कुछ बातों—गाने-नाचने—के चक्कर में वह थोड़े-बहुत जरूर आये, परन्तु उनकी जाग्रत सत्य-प्रियता ने उन्हें वहांकी अन्य बुराइयों से बाल-बाल बचाया। यहां तक कि जब एक युवती उनसे प्रेम-संबंध बांधने लगी तो उन्होंने उसकी माता से साफ कह दिया कि मैं विवाहित हूं, जबकि और हिन्दुस्तानी युवक अपने विवाह की बात छिपाकर वहां शादियां कर लिया करते थे।*

बैरिस्टरी पास करके वह हिन्दुस्तान में आये, पर बैरिस्टरी चली नहीं। एक बार अदालत में खड़े हुए तो चक्कर आ गया; काठियावाड़ में एक गोरे साहब से मिलने गये तो उसने चपरासी से निकलवा देने का हुक्म दिया। इस अपमान ने गांधीजी की आत्मा को कुछ जाग्रत किया। बाद में वह एक दीवानी के मुकदमे के सिलसिले में १८९३ ईसवी में दक्षिणी अफ्रिका गये तो वहांके निवासी भारतीयों के अपमानपूर्ण जीवन को देखकर इन्हें बड़ा दुःख हुआ। खुद भी रेल में, गाड़ी में, होटल में, अदालत में तरह-तरह के अपमान सहे; तब इनसे न रहा गया और वकील का जीवन छोड़कर एक सेवक का जीवन अंगीकार किया। वहांके भारतीयों को नागरिकता के समान अधिकार दिलाने के हेतु गोरों की पक्षपातपूर्ण नीति का विरोध करने के लिए एशिया-विरोधक कानून, गिरमिटिया-प्रथा, तीन पौंड का कर और अंगूठे का निशान देने के कानून, के खिलाफ भिन्न-भिन्न अवसरों पर सत्याग्रह की लड़ाई ठानी व उनमें उस समय बहुत-कुछ सफलता भी प्राप्त की। तब वह कर्मवीर गांधी के नाम संसार में विख्यात हुए। *टालस्टाय, रस्किन, रूसो, थोरो के*

विचारों का उनके जीवन पर बड़ा असर हुआ था, जिससे अहिंसा-मय सादा व क्षमापूर्ण जीवन के आदर्शों के प्रति उनका बहुत झुकाव हो गया। इन्हींसे शान्तिमय प्रतिकार या 'सत्याग्रह' की पद्धति का जन्म हुआ।

सत्याग्रह का जन्म

दक्षिण अफ्रिका में उन्होंने अपने आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए फीनिक्स आश्रम खोला; सत्याग्रह के भाव का प्रचार करने के लिए 'इंडियन ओपिनियन' नामक अखबार निकाला व भारतीयों के जनमत को शिक्षित व संगठित करने व उनकी ओर से अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए आवाज बुलन्द करने के उद्देश्य से 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' नामक संस्था को जन्म दिया। *उनके जीवन के वे कई प्रयोग, जैसे सत्याग्रह के अलावा शारीरिक श्रम, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि, जिनके द्वारा वह आगे भारतवर्ष में 'महात्मा' पदवी को पहुंच गए, दक्षिण अफ्रिका में ही हुए।* जो तप व साधना उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में की वही हिन्दुस्तान में आकर बहुत-कुछ फूली-फली।

महामान्य गोखले से उनकी घनिष्टता दक्षिण अफ्रिका में ही हो गई थी। उनके व्यक्तित्व से वह इतने प्रभावित हुए थे कि उन्हें उन्होंने अपना 'राजनैतिक गुरु' कहा है। स्व० गोखले की आज्ञा से उन्होंने एक वर्ष तक सारे भारत में प्रवास किया; जगह-जगह की परिस्थिति का अच्छी तरह सूक्ष्म निरीक्षण किया व अहमदाबाद में 'सत्याग्रहाश्रम' खोला। इनमें कताई-बुनाई की शिक्षा के अलावा सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, अभय, स्वदेशी, अस्वाद, शरीर-श्रम, सर्व-धर्म-समभाव, अस्पृश्यता-निवारण, इन व्रतों के पालन का

अभ्यास कराया जाता था। 'सर्वोदय' नामक पुस्तक में उन्होंने 'अहिंसात्मक स्वराज्य' के जिस आदर्श का चित्र उपस्थित किया है उसीको व्यवहार में लाने का यह प्रयास समझा जा सकता है।

भारत में सत्याग्रह के प्रयोग

भारत में आते ही उन्होंने अपने नवीन 'सत्याग्रह' नामक शस्त्र का प्रयोग यहांकी समस्याओं को हल करने में किया। वह सीधे एकाएक राजनैतिक क्षेत्र में नहीं आये। समस्याएं व परिस्थितियां जैसे-जैसे उन्हें उसकी ओर स्वाभाविक रूप से खींचती जाती थीं वैसे-ही-वैसे वह उसकी तरफ आगे बढ़ते जाते थे। सत्याग्रही किसीके सिर पर ज़बरदस्ती चढ़कर नहीं बैठता। जब परिस्थिति की आवश्यकता व कर्तव्य का तकाजा होता है तब वह बड़े-से-बड़े साहस व जोखिम उठाने में भी नहीं हिचकिचाता।

गांधीजी अपने विचारों व सिद्धान्तों के बड़े ही दृढ़ आदमी थे। जहाँ कोई बात जंची नहीं कि उसको अमल में लाये बिना उन्हें चैन नहीं पड़ती। कोई काम आधे दिल से नहीं करते। वह अहिंसा के पुजारी थे, अतः उन्होंने आतंकवादियों के हिंसात्मक कार्यों की जब तब निन्दा करने में कसर नहीं की; पर साथ ही उनका यह भी सिद्धान्त है कि 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।' अतः हिंसात्मक प्रवृत्तियों की निन्दा करते हुए भी हिंसक व्यक्तियों से उन्होंने सदा ही प्रेम का व्यवहार किया है। वह कूटनीति को बुरा समझते थे। व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—राजनीति में भी—सत्य-सरल नीति को ही श्रेष्ठ मानते थे। अतः भारत में आते ही उन्होंने तरह-तरह से सम्भव अहिंसात्मक रीति-नीति का प्रचार आरम्भ किया।

१६१५ में कलकत्ते में उन्होंने राजनैतिक डाके व खून के खिलाफ़ भाषण दिया। उन्होंने कहा—इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे खून से किसीका हित नहीं हुआ। इसी वर्ष मद्रास इलाके में उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई थी। १६१६ में काशी-विश्वविद्यालय के शिला-रोपण के अवसर पर देशी नरेशों को लक्ष्य करके उन्होंने बड़ा कड़ा भाषण दिया। *इनसे उनकी स्पष्टवादिता, निर्भीकता, खरेपन व साहस की लोगों पर बड़ी छाप पड़ी व लोग उनकी ओर आकर्षित होने लगे।*

चम्पारन व खेड़ा में सत्याग्रह के प्रयोग हुए तब तक गांधीजी ब्रिटिश साम्राज्य के भक्त थे। दक्षिण अफ्रिका के बोअर-युद्ध में तथा पिछले अंग्रेज-जर्मन युद्ध में उन्होंने सरकार का साथ दिया था।

परन्तु जलियाँवाला बाग के गोलीकाण्ड ने उनकी राजभक्ति की जड़ हिला दी। यों अंग्रेज जाति के वह परम हितैषी थे, उसके गुणों पर मुग्ध थे, परन्तु उनकी साम्राज्य पद्धति के अब वह कट्टर विरोधी हो गए।

दोष हमारा है

गांधीजी ने १६२० में असहयोग आन्दोलन शुरू किया, जिसका मुख्य उद्देश्य था हिन्दुस्तान में स्वराज्य की स्थापना। इसमें एक और जहाँ कई सरकारी संस्थाओं से असहयोग की घोषणा की गई तहाँ दूसरी ओर स्वदेशी, खादी, अस्पृश्यता-निवारण, राष्ट्रीय एकता, शिक्षा-प्रचार आदि रचनात्मक कार्य पर भी जोर दिया गया। यद्यपि गांधीजी ने ब्रिटिश शासन के बहुत से दोष बताये, तो भी वह यही मानते थे कि हिन्दुस्तानियों के पराधीन होने में मुख्य दोष खुद उन्हींका है। जबतक वे अपने उन दोषों और कमियों को दूर नहीं करते तबतक उन्हें

स्वराज्य नहीं मिल सकता, न वह टिक ही सकता है। शुरू में जो रचनात्मक कार्यक्रम चतुर्मुखी था वह बाद को उन्होंने अनुभव से बहुमुखी बना लिया है, जिसके अंग इस प्रकार हैं —(१) खादी, (२) ग्रामोद्योग, (३) नई तालीम, (४) किसान-सेवा, (५) मजदूर-संगठन, (६) राष्ट्रीय एकता, (७) अस्पृश्यता निवारण, (८) हिन्दुस्तानी-प्रचार, (९) गोसेवा, (१०) आदिनिवासी-सेवा, (११) स्त्री-सेवा, (१२) स्वच्छता और आरोग्य, (१३) रोग-निवारण, (१४) मद्यपान-निषेध और (१५) विद्यार्थी-संगठन आदि ।

असहयोग के इस प्रारंभिक काल में १९१८ की कलकत्ता कांग्रेस के समय से गांधीजी का सीधा प्रवेश व प्रभाव कांग्रेस पर पड़ने लगा। और १९२०-२१ की नागपुर और अहमदाबाद कांग्रेस को गांधी-कांग्रेस ही कहना चाहिए। इस बीच उन्होंने गुजराती और हिन्दी में 'नवजीवन' तथा 'हिन्दी- नवजीवन' व अंग्रेजी में 'यंग इंडिया' नामक तीन साप्ताहिक पत्र निकाल दिये थे। लेखक के नाते भी गांधीजी का बड़ा ऊंचा स्थान है। *बड़े-बड़े अंग्रेजीदां सुलेखक भी उनकी प्रशंसा करते हैं। सरलता, सुबोधता, व संक्षिप्तता उनकी भाषा के प्रधान गुण हैं। उनकी भाषा सीधी हृदय में बैठ जाती है।*

अनशन या उपवास का गांधीजी के सिद्धांत व जीवन में बड़ा स्थान है। अपना दोष मालूम होने पर आत्मशुद्धि के लिए अथवा अपने साथियों, मित्रों, कुटुम्बियों के दोषों का अपने को जिम्मेदार मानकर उन्होंने कई बार छोटे-बड़े उपवास किये थे। वह मानते थे कि जिन कामों व आन्दोलनों को मैं चलाता हूँ उनमें यदि दोष और बुराई पैठ जाती है तो उसमें मेरी जिम्मेदारी है।

निराला अभियुक्त

अहमदाबाद कांग्रेस के बाद गांधीजी ने वायसराय को अन्तिम सूचना दी कि एक वर्ष में स्वराज्य की घोषणा करो नहीं तो मैं बारडोली से सामूहिक सत्याग्रह करूंगा। उसी सिलसिले में चौरीचौरा में जनता की ओर से हत्याकाण्ड हो जाने से उन्होंने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। सरकार ने उन पर मुकदमा चलाया। छः साल की सजा दी। उस समय गांधीजी ने एक सच्चे सत्याग्रही की भांति कहा—"सरकारी वकील ने जो इल्जाम मुझपर लगाये हैं उन सबको मैं मानता हूँ। मैं मंजूर करता हूं कि चौरीचौरा और बम्बई के हत्याकाण्डों की जिम्मेदारी से मैं अपने को अलग नहीं कर सकता।" जज ने भी अपने फैसले में लिखा, "अबतक आपके जैसे आदमी के मुकदमे सुनने का काम न मुझे पड़ा न आगे पड़ने की संभावना है। *आप औरों से निराले ही आदमी हैं। यह सच है* कि आप अपने *करोड़ों देशवासियों की आँखों में एक बड़े देश-भक्त और महान नेता हैं। जो राजनीति में आपसे मतभेद रखते हैं वे भी आपको उच्च आदर्श रखने वाला और भद्र-पुरुष ही नहीं, एक सन्त मानते हैं और यदि कभी सरकार ने आपको छोड़ दिया तो सबसे ज्यादा खुशी मुझे होगी।*" इन्हें छः साल की सजा दी गई थी लेकिन अपेण्डिसाइटिस के आपरेशन के कारण दो साल में ही छोड़ दिये गए। छूटने के बाद जगह-जगह साम्प्रदायिक प्रचार के कारण दंगे हुए और गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए २१ दिन का उपवास किया। १९२९ तक खादी-प्रचार, अस्पृश्यता-निवारण, राष्ट्रीय एकता आदि रचनात्मक कामों में व्यस्त रहे। १९२९ में लाहौर-कांग्रेस का ध्येय 'पूर्ण स्वराज्य' कर दिया गया। उसकी प्राप्ति के उद्देश्य से नमक-

सत्याग्रह का नेतृत्व किया। दिल्ली में फिर गांधी-इरविन समझौते के द्वारा अस्थायी सुलह हुई और वह दूसरी गोलमेज परिषद् में सारे भारत के एकमात्र प्रतिनिधि बनकर इंग्लैंड गये। उसके बाद फिर सत्याग्रह शुरू हुआ और १६३४ में, बम्बई-कांग्रेस में ही, वह कांग्रेस से अलग हो गये। फिर भी वह अन्त तक कांग्रेस के सर्वोपरि नेता का स्थान प्राप्त किये रहे।

१६४१ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन छेड़ा, जिसके फल-स्वरूप भारत को 'आजादी' नसीब हुई। लेकिन यह बहुत मंहगी पड़ी। उसकी ज्वाला में खुद गांधीजी को भी अपनी आहुति दे देनी पड़ी! ३० जनवरी १६४८ को एक सिरफिरे हिन्दू ने उन्हें अपनी गोली का निशाना बनाया। 'हे राम' कहकर उनका शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा, पर वे सीधे अमर-लोक को चले गये।

उनका जीवनोद्देश्य

हिंसा, कलह, पारस्परिक द्वेष तथा शोषण से पीड़ित मनुष्य जाति के लिए अहिंसा और सत्याग्रह उनकी अमूल्य देन है। भारत के इस महापुरुष को कई बार उपवास और अनशन की तपस्या में अपनेको तपाना पड़ा है। मानव-जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिसको इसने स्पर्श न किया हो। भारतीय जीवन का कोई ऐसा भाग नहीं है जिसको सुधारने का इन्होंने यत्न न किया हो।

उनके जीवन का उद्देश्य अपनी आत्मा को विश्व की आत्मा में मिला देना था, जिसको वह आत्म-साक्षात्कार या ईश्वर-दर्शन कहा करते थे। उनसे मतभेद और विरोध रखने वाले आदमी भी उनके महान चारित्र्य-बल की प्रशंसा करते हैं। उनकी सरलता से बड़े-बड़े नीति-कुशल भी प्रभावित होकर जाते थे। उनकी हंसी में ऐसी मोहिनी थी कि मनुष्य उनके सामने जाते ही आधा परा-

जित हो जाता था। उनके इस अद्‌भुत आकर्षण का रहस्य था *उनकी अहिंसा की साधना।* सत्य का ऐसा साहसी साधक संसार में शायद यह पहला ही हुआ। सत्य के पथ पर चलते हुए बड़ी से बड़ी जोखिम भी उन्हें भयभीत नहीं कर पाती थी। भावना, विचार व कर्म तीनों में सत्य की साधना का ही दूसरा नाम सत्याग्रह है। हमारा बड़ा भाग्य है कि ऐसे महान सत्याग्रही के समय में हम जीवित रहे।

: २ :

रूस का महात्मा

[काउंट लियो टालसटाय]

यूरोप का अशोक

आज से पौने दो हजार वर्ष पूर्व भारत में एक राजकुमार का जन्म हुआ। दास-दासियां, वैभव-विलास,-शक्ति-अधिकार सभी उसके इंगित की प्रतीक्षा में थे। वह शूरवीर था, साहसी था और था कुशाग्र-बुद्धि। युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव हुआ, देशों को जीतने की इच्छा प्रबल हुई और एक बड़ी-सी सेना के साथ उसने कलिंग पर आक्रमण किया। हजारों लाखों मनुष्यों की हत्या, मार-काट और करुण चीत्कार से उत्पन्न विलाप, दुर्दशा, पीड़ा, विनाश सभी जैसे एकत्रित होकर उसके हृदय में रो पड़े। राजकुमार को अपने कृत्य से घृणा हो गई। इस आघात से जैसे उसकी कठोर प्रवृत्तियां टूक-टूक हो गईं और साथ ही सोई हुई कोमल वृत्तियां जीवित और जाग्रत हो पड़ीं। *हिंसक अहिंसक हो गया, कठोर कोमल हो गया।* और

पशु-बल का प्रेमी मानवता का उपासक हो गया। वह सत्य-अहिंसा और धर्म का पुजारी बन गया और जीवन भर स्वयं इनका पालन करता हुआ करोड़ों व्यक्तियों को सन्मार्ग दिखाता एवं उसे सुलभ बनाता हुआ इतिहास में 'महान' हो गया।

आज फिर हमने देखा कि पश्चिम में इसी प्रकार राज-भवन में उत्पन्न होने वाले एक राजकुमार ने आरम्भ में बड़ा विलासी जीवन व्यतीत किया। उसके पास भी वैभव-विलास के सामान प्रस्तुत थे; उतने अधिक रूप में नहीं, फिर भी थे अवश्य। उसने इन्हींको जीवन का वास्तविक आनन्द समझ कर अपनेको पूरी तरह उसीमें डुबो दिया। वह वीर था, साहसी था और उत्साही था। उसने लड़ाइयां लड़ीं, द्वन्द-युद्ध किये और जीवन के कई भयंकर दृश्य देखे। एकाएक उसकी आत्मा हाहाकार कर उठी। उसने युद्ध करना छोड़ दिया, विलासी जीवन त्याग दिया और सदाचार तथा पवित्र जीवन की ओर अग्रसर हुआ। *उसने स्वयं प्रकाश प्राप्त करके पश्चिम के करोड़ों व्यक्तियों को प्रकाश दिखाया। उसकी मृत्यु हुए अभी कोई ४० ही वर्ष हुए, किन्तु अपनी इस महानता के कारण जैसे वह वास्तविक जीवन का मार्ग दिखाता हुआ आज भी अमर है। इन्द्र-लोक, चन्द्र-लोक किसी लोक में अमरता नहीं है। इसी पृथ्वी ने किन्हीं-किन्हीं लोगों को अमरता प्रदान की है। उन्हीं इने-गिने महा-मानवों की कीर्ति के बीच महात्मा टाल्सटाय की कीर्ति सदैव चमकती रहेगी।*

बचपन

टाल्सटाय का जन्म रूस देश में टूला के निकट यासनाया पोलयाना नामक ग्राम में २८ अगस्त, १८२८ ईस्वी, को हुआ। टाल्सटाय के माता-पिता दोनों ही उच्च घराने के थे। टाल्सटाय-

वंश रूस के इतिहास में प्रसिद्ध है। इस वंश को 'काउण्ट' की उपाधि प्राप्त थी। टाल्सटाय की माता भी एक उच्च घराने की रमणी थी। उसके बहुत से निकट सम्बन्धी बड़े-बड़े सेनापति रह चुके थे। टाल्सटाय के पिता का नाम काउण्ट निकोलस टाल्सटाय और माता का नाम प्रिन्सेज मेरी बालकन्सकी था। रवीन्द्रनाथ टैगोर की ही भांति बाल्यावस्था में उनकी माता का देहान्त हो गया। उस समय वह एक वर्ष और दो मास के थे। कुछ ही वर्षों बाद जब उनकी अवस्था नौ वर्ष की हुई, उनके पिता भी चल बसे। इस समय टाल्सटाय के चार भाई और एक बहन थी। परिवार में उनके पालन-पोषण का भार उनकी फूफी पर पड़ा किन्तु वास्तव में तो वह टटियाना यरगोल्सकी नामक एक उदार और सच्चरित्र महिला की देख-रेख में रहे। यह महिला बड़ी ही उदार और आदर्श थी। वह स्वयं टाल्सटाय के पिता पर आसक्त थी और वह भी उससे विवाह करना चाहते थे; किन्तु एक उच्च वंश की स्त्री से उनका विवाह कराने की खातिर उसने उनसे विवाह नहीं किया था। टाल्सटाय की माता के मर जाने पर फिर विवाह का समय आया। किन्तु उसने फिर भी ऐसा नहीं किया—केवल इसी विचार से कि बालकों की ओर शायद उनके पिता की उपेक्षा बढ़ जायगी और वह अपनी पहली पत्नी को भूल जायंगे। उनके निधन पर उसने उनके पालन-पोषण का कार्य पूरी तरह अपने ऊपर ले लिया और माता की भांति उनका पालन-पोषण किया। इस प्रकार की उदारता एवं सच्चरित्रता के उदाहरण संसार के इतिहास में बहुत कम मिलेंगे। *इस उदार महिला की देख-रेख में उनका पालन-पोषण होने लगा। वह टाल्सटाय पर बहुत प्रेम करती थी। उसके प्रेम का टाल्सटाय पर बहुत प्रभाव भी पड़ा। उसके प्रेम ने उन्हें प्रेम*

में रंग दिया; वह प्रेम के आनन्द को समझने लगे। अपनी इस नई माता के प्रभाव के ही कारण टाल्सटाय ने दूसरा महत्वपूर्ण पाठ जो पढ़ा वह था शान्त तथा एकान्त जीवन के सौंदर्य के प्रति आकर्षण। टाल्सटाय अपनी बाल्यावस्था में ही अपने आस-पास के भाई-बहनों तथा अन्य पड़ोसियों से भी प्रेम करते थे। उनकी अपने बड़े भाई निकोलस से बहुत पटती थी। इस छोटी ही उमर में उनमें विश्व-बन्धुता तथा विश्व-कल्याण की भावना मौजूद थी। उन दोनों ने मिलकर इस छोटी उम्र में ही 'आंट ब्रदर्स' नामक एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य था संसारभर के लोगों को भ्रातृप्रेम में बांधना। इस संस्था की स्मृति में पहाड़ी पर पेड़ की एक हरी डाली रोपी गई।

नारकीय जीवन

टाल्सटाय तथा उसके भाई विद्याध्ययन के लिए काज़न के विश्व-विद्यालय में भेजे गये। टाल्सटाय ने पहले राजदूत बनने के विचार से पूर्वी देशों की भाषा सीखने का प्रयत्न किया, किन्तु मन न लगा। उन्होंने कानून का अध्ययन आरम्भ किया, किन्तु इसमें भी मन न लगा। अन्त में असन्तुष्ट होकर कालेज छोड़ दिया और यासनाया नामक ग्राम में चले गये। इसके थोड़े ही दिनों बाद वह पेट्रोग्रेड चले गये। यहांका उनका जीवन बहुत बुरा रहा। वह भोग-विलास में पड़ गये और आत्मिक तथा नैतिक दृष्टि से उनका बहुत पतन हुआ। इस समय के जीवन का चित्र जब-जब टाल्सटाय की आंखों के सामने खिंचा, तब-तब उन्हें बड़ी ग्लानि और घृणा उत्पन्न हुई। उन्होंने युद्धों में नर-हत्यायें कीं, द्वन्द-युद्ध किये, जुआ खेला, दुराचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखा और लोगों को

धोखा दिया। झूठ, लूट-मार, मद्यपान, निर्दयता, हत्या आदि सभी बुरे काम उन्होंने किये। इसी प्रकार का जीवन उन्होंने दस वर्ष तक व्यतीत किया।

फिर रूसी तोपखाने के साथ वह काकेशस चले गये। वहां लग-भग तीन वर्ष रहे। यह तीन वर्ष का जीवन उनके शारीरिक एवं मानसिक बल को बढ़ाने में अच्छा हुआ। आने के एक वर्ष बाद १८५२ में 'बचपन' नामक उनका पहला उपन्यास प्रकाशित हुआ। समालोचकों ने इस पहले ही ग्रन्थ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। १८५३ ई० में प्रधान सेनापति प्रिन्स गर्चाकफ के स्टाफ में स्थान मिल जाने के कारण वे सेबस्टोपोल चले गये। *भयंकर से भयंकर काम करने के लिए तैयार हो जाने की आदत के कारण यहां उनकी जान कई बार बाल-बाल बची।* थोड़े ही दिन बाद 'सेबस्टोपोल की कहानियां' प्रकाशित हुईं जिसने उनको बहुत प्रसिद्ध कर दिया। जार का ध्यान भी इस पुस्तक के कारण टाल्सटाय की ओर आकर्षित हुआ।

जीवन की क्रांति

सेबस्टोपोल में ही पहली बार उनके विचारों में क्रांति हुई। उन्होंने सेबस्टोपोल के अस्पताल में उन बाइस हजार व्यक्तियों को कष्ट सहते देखा, जोकि युद्ध में तोपों और बन्दूकों से आहत हो चुके थे। वीरता और उसका दुःखान्त परिणाम देखकर उनके विचारों को एक धक्का-सा लगा और उनकी दिशा बदल गई। उनमें उदारता व सदाशयता का उदय हुआ। वह सैनिक वैभव के एकान्तिक भाव से तंग आगये और पीटर्सबर्ग चले गये। १८५७ ई० में उन्होंने योरप-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। पेरिस में उन्होंने एक आदमी

को फांसी दिये जाते हुए देखा। इस हृदय-विदारक दृश्य से उनके कोमल हृदय को बड़ा आघात लगा और वह प्राणदण्ड की प्रथा के विरोधी हो गये। उन्होंने स्वीजरलैंड, जिनोवा आदि की भी यात्रा की और इस यात्रा में जब अंग्रेज यात्रियों के गर्वपूर्ण व्यवहार को देखा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। सन् १८६० में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया। अपने भाई की मृत्यु की घटना का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। *उनके हृदय पर जीवन के दुःखद परिणाम का चित्र अंकित हो गया। विलासी जीवन, युद्ध की भयानकता, फांसी और मृत्यु, एक के बाद एक उनके विचारों में क्रांति मचाते गये। यही उनके महात्मापन की भूमिका है। उनके हृदय में सत्यान्वेषण की चाह बलवती होती गई।*

विचारों की दिशा बदलने के साथ ही उनके कार्य की दिशा भी बदली। उन्होंने आरम्भिक शिक्षा की समस्या का अध्ययन फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड जाकर किया और रूस में किसान गुलामों के आजाद होते ही १८६१ में उनके लिए स्कूल खोल दिये। स्कूल में छात्रों को काफी स्वाधीनता थी। अतः अधिकारियों की वक्र दृष्टि उनपर पड़ी और उनको वे बन्द करने पड़े। जब किसानों और सरदारों में भूमि बाँटने का प्रश्न आया तो उन्होंने सदैव किसानों का पक्ष लिया।

यदि इस समय तक के टालसटाय के विचारों की कहानी देखें तो प्रतीत होता है कि संदेह-सागर मे डुबकी लगाती हुई तथा संसार की वास्तविकता से अनभिज्ञ चारों ओर अंधकार अनुभव करती हुई किसी महान आत्मा की कैसी दशा होती है। विचारों की क्रांति का यह इतिहास अविश्वास और अश्रद्धा से आरम्भ होता है। जब वह बारह वर्ष के ही थे कि एक लड़का उनके पास आया और कहने लगा कि स्कूल में एक

नया अन्वेषण हुआ है और वह यह कि ईश्वर कोई चीज नहीं है। जो कुछ ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है वह मनगढ़न्त है। लड़के की यह बात उनको मनोरंजक मालूम हुई। अपने बड़े भाई डिमेट्री को प्रतिदिन गिरजा में जाते हुए और व्रत रखते देखकर अब वे उसपर हंसा करते थे। इस समय उनका यह विश्वास था कि उनकी श्रेणी के लोग नास्तिक होते हुए भी पुरानी बातों पर विश्वास रखने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली, ईमानदार और पवित्र होते हैं। पुराने विचार वाले अल्पज्ञ, कठोर और मक्कार होते हैं। किन्तु इस अविश्वास और अश्रद्धा के होते हुए भी सत्य को जानने की उनकी इच्छा कम न हुई। किन्तु इस दिशा में उनका कोई साथी नहीं था। जब लोगों ने उनकी इस प्रवृत्ति का परिचय पाया तो उनकी हंसी उड़ाई और उनसे घृणा करने लगे। किन्तु जब उन्होंने पाशविक प्रवृत्तियां प्रकट की तो लोगों ने उनकी प्रशंसा की। उन्होंने सांसारिक वासना, विषय-भोग, घमण्ड, क्रोध, बदला, आदि का समाज में बड़ा मान देखा। वह इनकी ओर दौड़े, इनपर अधिकार भी कर लिया; किन्तु इनकी वास्तविकता का पता लगाते ही उन्हें यह जानकर दुःख हुआ कि वह तो बहुत बड़ा धोखा हुआ। जिसे वह सत्य और अच्छा समझते थे वह तो असत्य और नितान्त बुरा निकला। उन्होंने हृदय से अपने आपको इस कृत्य के लिए धिक्कारा। इस नये प्रकाश में जब उन्होंने अपने सारे कृत्यों को देखा तो उन्हें प्रतीत हुआ कि उन्होंने अब तक ग्रन्थ रचना भी नाम और धन के लोभ से ही की है और इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थों की स्वयं कड़ी आलोचना की है।

सन्१८६२ ई० में टाल्सटाय का विवाह सोफिया बेहर्स नामक युवती से हुआ। विवाह के बाद के कुछ वर्ष बड़े आनन्द

से बीते। इन्हीं दिनों उन्होंने 'युद्ध और शान्ति' तथा 'अन्ना केरीनिना' नामक दो उपन्यास प्रकाशित कराये। इन उपन्यासों ने उनके रचना-कौशल की धूम सारे यूरोप में मचा दी। साहित्य-सम्बन्धी कामों में उनको अपनी धर्मपत्नी से बड़ी सहायता मिलती थी। उनका लेखन अच्छा नहीं था, इसलिए प्रेस के लिए उनके हस्तलिखित ग्रन्थों की शुद्ध और सुन्दर नकल वही करती थीं।

दार्शनिक प्रभाव

उनकी आयु के ५० वर्ष व्यतीत होगये थे। अब उनके जीवन में एकदम परिवर्तन हुआ। यद्यपि उनके पास काफी संपत्ति थी, लेखनकला की कीर्ति चारों ओर फैल चुकी थी और दाम्पत्य-जीवन भी सुखमय था, तथापि वह जीवन से असंतुष्ट होगये। उन्हें चारों ओर अंधकार दिखाई देने लगा और जीवन निस्सार प्रतीत हुआ। बात यह थी कि वह युवावस्था से ही दार्शनिक तथा धार्मिक समस्याओं पर विचार किया करते थे। वह उस समय जीवन-समस्या को सुलझा न सके। उन्हें अपने प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं मिला था। वह स्वभाव से चिन्तनशील तो थे ही। भोग-विलास के जीवन में कुछ दिनों के लिए वह ये सब समस्याएं और प्रश्न अवश्य भूल गये थे, किन्तु शीघ्र ही उनकी चिन्तनशीलता फिर जाग्रत होकर उन्हें विकल करने लगी। ये समस्याएं और प्रश्न उनके सामने इतने वेग से आने लगे कि टाले नहीं टलते थे। कई बार तो इनसे व्याकुल होकर उन्होंने आत्महत्या तक कर लेने का विचार किया। अपने इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए उन्होंने फिर दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया। अब वह इस *परिणाम पर पहुंचे कि जीवन के लिए परिश्रम* और प्रेम

अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य को सरल स्वभाव, परिश्रमी तथा दयालु होना चाहिए। समाज से जितना लाभ हमको मिलता है उससे अधिक हमें समाज की सेवा करनी चाहिए। सेवा में ही आनन्द समझना चाहिए। सदैव निडर और प्रसन्न रहना चाहिए। यदि हम अपने 'अहम्' को मिटा देंगे तो हमें अपने मरने का भी डर नहीं रहेगा।

उन्होंने इस प्रकार अपनी समस्याओं का हल प्राप्त करते ही अपने जीवन को उसी प्रकार सरल एवं पवित्र बनाने का कार्य आरम्भ किया। वह निरामिष भोजन करने लगे, किसानों के से कपड़े पहिनने लगे, मजदूरी करने लगे और लोगों की सेवा तथा उपदेश में अपना समय लगाने लगे। मादक द्रव्यों का सेवन त्याग देने से उनका स्वास्थ्य बहुत सुधर गया। वह अपनी सारी सम्पत्ति किसानों को देना चाहते थे, किन्तु अपनी स्त्री के कारण ऐसा न कर सके। वह विदुषी तो थी, किन्तु उस नैतिक आदर्श तक नहीं पहुँची थी जहाँ तक टाल्सटाय पहुँच चुके थे। रुपये का लालच छोड़ना उसके लिए कठिन था। उसे चिन्ता थी कि निर्धन होजाने से मेरे लड़के धन-हीन हो जायंगे। कहते हैं, एक बार तो उसने सरकार को प्रार्थना-पत्र तक भेज दिया कि मेरा पति पागल है, उसे रियासत का प्रबंध करने में असमर्थ घोषित कर दिया जाय। स्वार्थ व धन-लोभ के कारण मनुष्य क्या-क्या अनर्थ नहीं करता ? एक विदुषी महिला अपने ही पति के विरुद्ध इस प्रकार का घृणा-पूर्ण कृत्य कर बैठी।

अन्त व विशेषताएं

जार के निरंकुश शासन के कारण वह सदैव दुःखी रहते थे। उन्होंने अपनी 'क्या करें ?' नामक पुस्तक में लिखा है कि

रूस में उस समय कितनी विषमता थी। एक ओर धनी विलास में डूबे रहते थे, दूसरी ओर मजदूरों को पेट भर भोजन भी नसीब नहीं होता था। क्यों ? इसलिए कि धनिकों के विलास में किसी प्रकार कमी न आने पावे।

अन्त में वह शहर के जीवन से असन्तुष्ट होकर ग्रामों की ओर चले गये और पुस्तकें लिखने लगे, जिन्हें लोगों ने बहुत पसन्द किया। चार वर्ष में ही उनकी सवा करोड़ प्रतियाँ बिक गईं। जब उन्होंने चर्च पर योग्यतापूर्ण और निर्भीक आक्षेप किया तो धार्मिक जगत् में हलचल मच गई। उनके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर उन्हें चर्च से निकाल दिया गया। किन्तु इसका उलटा प्रभाव हुआ। लोगों की श्रद्धा उनके प्रति और अधिक बढ़ने लगी। अब तो विदेशों में भी उनकी ख्याति फैलने लगी और उनका प्रभाव दिन-दूना रात-चौगुना होने लगा।

पर उनके अन्तिम दिन शान्ति से नहीं बीते। सरकार ने राजनैतिक क्रान्ति को दबाने के लिए बड़ी क्रूरता से काम लिया। उसे देखकर वह चुप न रह सके। उन्होंने एक बड़ा ही मर्मभेदी पत्र लिखा और उसे यूरोप के सभी बड़े-बड़े पत्रों में प्रकाशित करवाया। इस पत्र में उन्होंने ज़ारशाही के अत्याचारों का बड़ा ही हृदय-विदारक वर्णन किया था। सरकार की भी वक्र-दृष्टि उन पर रहने लगी। इधर अपने परिवार वालों की फिजूलखर्ची से वह दुःखी थे ही। वह उनको छोड़ देना चाहते थे, किन्तु यह उनके सिद्धान्तों के विरुद्ध था। अन्त में तंग आकर वह एक रात्रि को, जबकि बर्फ पड़ रहा था, घर से निकल पड़े। उनके साथ उनका एक विश्वासपात्र मित्र था। उनका वृद्ध शरीर जाड़े को सहन न कर सका। उन्हें पास के ही एक स्टेशन पर ठहरना पड़ा। इसी स्टेशन के स्टेशनमास्टर के घर सन् १९१० में उन्होंने इस असार संसार को त्याग दिया। मरते समय

उन्होंने कहा कि मुझे उसी पहाड़ी पर दफनाना जहाँ मैंने और मेरे भाई ने विश्व-बंधुत्व की कल्पना से एक संस्था स्थापित करके उसकी स्मृति में एक हरी डाली रोपी थी। पादरी लोगों ने उनके अन्तिम संस्कार में भाग लेने से इन्कार कर दिया। उनके जनाजे की नमाज किसानों ने ही पढ़ी। हजारों किसानों ने उनके अन्तिम संस्कार में भाग लेना चाहा, किन्तु सरकार ने उनपर प्रतिबन्ध लगा दिया। पाप और अत्याचार का राज्य कब तक रह सकता है ? थोड़े ही समय के बाद एक बड़ी क्रांति हुई, जिसने रूस में जारशाही का अन्त कर दिया।

महात्मा टालसटाय उन्नीसवीं सदी के एक बहुत बड़े विचारक और कलाविज्ञ हुए हैं। उन्होंने अपने विचारों से सारे यूरोप में क्रांति की लहर फैलादी। कई लोग उन्हें आचार्य और अपना पथ-प्रदर्शक मानने लगे। गांधीजी ने भी उनसे प्रेरणा पाई। उन्होंने लगभग पचास ग्रन्थ लिखे जिनमें उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध और विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। धर्म, समाज, कला, विज्ञान और स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध पर उनके विचार अत्यन्त मार्मिक और मौलिक हैं। जब वह किसी बात का वर्णन करते हैं तो उसका चित्र-सा खींच देते हैं। जिस बात को समझाना चाहते हैं उसे सभी सम्भव तर्कों के द्वारा सिद्ध करते हैं। उनके ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि उनकी प्रतिभा बहु-मुखी थी। वह एक महापुरुष थे, महात्मा थे। उन्होंने अपने विचारों में और कार्यों में साम्य लाने का बहुत प्रयत्न किया और इसमें बहुत अंशों में सफल हुए। वह सच्चे ईश्वरभक्त और सन्त थे। चर्च के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े ही विरोधी थे। वह उसे ईसा के सिद्धान्तों के विरुद्ध मानते थे। ईसा के 'पर्वत पर के उपदेश' पर वह पूरी तरह से मुग्ध थे। वह आध्यात्मिक कल्याण तथा सांसारिक सुख-शान्ति के लिए उन नियमों पर

चलना और व्यवहार करना अनिवार्य समझते थे। उन्होंने उनको व्यवहार में लाने का शक्तिभर प्रयत्न किया। अत्यन्त प्रतिष्ठित और समृद्धिशाली सामन्त-कुल में जन्म लेने पर भी उन्होंने अपने जीवन को सादा बना लिया।

दिव्य विचार

महात्मा टाल्सटाय के विचार बड़े ही सरल और पवित्र हैं। *उनकी पुस्तक, पुस्तक नहीं मनुष्य का हृदय है। 'पुस्तक को स्पर्श करना मानो उनके हृदय को स्पर्श करना है।' मानव-कल्याण और उच्चादर्श से वह ओत-प्रोत हैं। वर्तमान जीवन की विषमता और ज्वाला में जलते हुए व्यक्तियों के लिए वह चन्दन की भांति शीतल हैं।* वह श्रम पर बड़ा जोर देते थे। उनका कहना था कि 'यदि प्रत्येक व्यक्ति कृषि-श्रम को अपना कर्त्तव्य स्वीकार करले, अर्थात् अपनी ही मेहनत से पैदा किये हुए अन्न पर गुजर करे तो मनुष्य में एका और प्रेम बढ़ जाय और सारी यातनायें दूर होजायं; क्योंकि जब सब अनाज पैदा करेंगे तो अनाज बिकने की चीज न रहेगा। फिर किसी की सहायता करने में किसी को असमंजस न रहेगा। उस समय आदमी भूख से आजिज होकर, धोखा देकर या उद्दण्डता करके अपना पेट भरने का उद्योग न करेगा। और जिस समय लोग सन्तुष्ट होंगे, उद्दण्डता और धोखेबाजी दुनिया से उठ जायगी। जब हम भूखे की सेवा करना चाहते हैं तो उस समय हम उसको उपन्यास पढ़कर नहीं सुनाते। अन्न और वस्त्र-हीन की सेवा के लिए हम उसके कानों में बहुमूल्य बालियाँ नहीं पहिनाते। इसी तरह मनुष्यमात्र की सेवा का यह हरगिज अर्थ नहीं हो सकता कि हम सन्तुष्ट व्यक्तियों को तो और व्यसन के सामान पहुंचायें और भूखों और दरिद्रों को भूख के कारण

मर जानेदें। वह कहते थे कि "जिनके पास दो कोट हैं वे एक कोट उसे देदें जिसके पास एक भी नहीं है, और जिसके पास भोजन है वह भी ऐसा ही करे।" उनका उपदेश था कि "इस पृथ्वी पर अपने लिए धन जमा मत करो; क्योंकि उसे काई और कीड़े नष्ट कर देते हैं, अथवा चोर चुरा लेजाते हैं; किन्तु तुम स्वर्ग में अपने लिए धन जमा करो, जहाँ न काई लगती है, न कीड़े ही खाते हैं और न चोर ही दरवाजा तोड़कर उसे चुरा ले जा सकते हैं। फिर जहाँ तुम्हारा धन रहेगा वहीं तुम्हारा मन रहेगा।" धन-संग्रह करने के वह बड़े विरोधी थे। इसे वह सारे पापों की जड़ मानते थे। उन्होंने कहा है कि "सूई के नकुए में से ऊंट निकल जाना तो सम्भव है किन्तु धनवान आदमियों का स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।"

मादक द्रव्यों के सेवन के भी वह बड़े विरोधी थे। उनका कहना था कि मादक द्रव्यों का सेवन दुराचार करने और अन्तः-करण की आवाज को दबाने के लिए किया जाता है। उनके सेवन से अन्तःकरण मर जाता है। शराब के नशे में आदमी ऐसे काम करता है जो उसके लिए निर्मद अवस्था में असम्भव होते हैं। उन्होंने लिखा है कि "प्रत्येक धर्म में आत्मोन्नति के लिए क्रमानुसार उन्नति आवश्यक मानी गई है। चीनी लोगों का विश्वास है कि स्वर्ग की सीढ़ी का एक पाया जमीन पर है और दूसरा स्वर्ग में है। अगर कोई स्वर्ग प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए पहिले सबसे नीचे वाले डंडे पर कदम रखना आवश्यक है। संसार के सभी महान् पुरुषों ने और धर्मों ने यह माना है कि शुद्ध सदाचारी जीवन प्राप्त करने के लिए बाक़ायदा क्रमानुसार सद्गुणों को अपने जीवन में धारण करना आवश्यक है। अपनी ऐशो-आराम की जिन्दगी को छोड़े बिना मनुष्यमात्र का हित कैसे हो सकता है या धार्मिक जीवन कैसे व्यतीत किया जा सकता

है ? और जो मनुष्य धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहता है वह ऐशो-आराम और व्यसनों को छोड़े बिना भी कैसे रह सकता है ?"

वह कहते थे कि "त्याग के बिना धार्मिक जीवन न हुआ और न होगा। त्याग का अर्थ यह है कि मनुष्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति से स्वतन्त्र होकर मन की वासनाओंको बुद्धि के अधीन करदे। वासनाएं दो प्रकार की हैं—मिश्रित और मूल। खेल, तमाशा, बातचीत करने की वासना तो मिश्रित वासना है और अत्याहार, आलस्य और काम मूल वासना है। बहुत ज्यादा खाने से मनुष्य आलसी होता है और आलसी व्यक्ति काम-भाव पर विजय कैसे पा सकता है ? इसलिए प्रत्येक धर्म के अनुसार त्याग की पहिली सीढ़ी जिह्वा को वश में रखना या उपवास करना है। *धार्मिक जीवन की पहिली शर्त त्याग है और त्यागपूर्ण जीवन की पहिली शर्त उपवास है।"* वह अहिंसा के बड़े पक्षपाती थे। मांस खाना तो वह बहुत बुरा समझते थे। उनका कहना था कि "मांस खाने से पाशविक प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं। मांस खाकर सदाचारी रहना असम्भव है।" इतना ही नहीं, वह इससे और आगे बढ़कर कहते थे— *"फौज हत्या करने का एक साधन है। फौजों को बनाना और रखना हत्या करने की तैयारी करना है। हिंसा और मारकाट से शान्ति और सुख नहीं मिल सकता। क्या लोहू से सना हुआ पथ लोहू से धोने से साफ होजायगा ?"* वह सम्पूर्ण हृदय से मानव-जाति के हितचिंतक थे। पृथ्वी के भार को हलका करने का उपाय भी उन्होंने सनातन काल से दिखाया हुआ ही बताया है:—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'। यह उपाय उन्होंने केवल किताब लिखकर नहीं बताया किन्तु सब कुछ त्याग कर, अकिंचन बन कर तथा अपरिग्रह का पालन करके और अन्त में महाभिनिष्क्रमण करके।

: ३ :

सत्यवीर सुकरात

सुकरात बाहर से जितने ही कुरूप दिखाई देते थे अन्दर से उतने ही सुन्दर थे। उनके नाटे कद, मोटे पेट, कुरूप चेहरे एवं विचित्र वेष-भूषा को देखकर यह अनुमान ही नहीं होता था कि उसमें एक पवित्र आत्मा और उच्च व्यक्तित्व छिपा हुआ है। वह गुदड़ी के लाल थे। वह जबतक जीवित रहे बहुत कम लोग उन्हें समझ पाये; किन्तु मृत्यु के बाद तो वह अपने ही देश के नहीं, समस्त संसार के श्रद्धाभाजन बन गए। उन्होंने न बड़े-बड़े ग्रंथों की रचना की, न कोई महत्त्वपूर्ण कार्य किया; किन्तु उनके सद्-विचार ही उनकी कीर्ति-पताका आजतक फहरा रहे हैं।

जन्म और युवावस्था

सुकरात का जन्म ईसा के ४६६ वर्ष पूर्व यूनान के एथेन्स नगर में हुआ। यह वह समय था जब कि यूनान विद्या, कला-कौशल और व्यापार, सभी दृष्टियों से चरम उन्नति पर था। सुकरात के पिता मूर्तिकार और माता नर्स थी। कुछ समय तक उन्होंने अपने पिता को उनके धंधे में सहायता दी, किन्तु तत्कालीन नियमों के अनुसार उन्हें फौज में भर्ती होना पड़ा। एक सैनिक के रूप में भी उन्होंने अपना कर्त्तव्य बड़ी अच्छी तरह पूरा किया। वह बड़ी बहादुरी और कुशलता से लड़े।

कठोर जीवन

सैनिक जीवन परित्याग कर देने के बाद उन्होंने अपना शेष जीवन बातचीत के द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति में व्यतीत किया। उनके विचार इतने महत्त्वपूर्ण थे कि अपने

जीवन-काल में ही वह दुनिया के सब से अधिक बुद्धिमान व्यक्ति समझे जाने लगे। वह प्रायः सुबह से ही घूमने निकल जाया करते थे। उनकी गरीबों जैसी वेश-भूषा सारे एथेन्स में प्रसिद्ध थी। चाहे शीत हो चाहे ग्रीष्म, वह कोट नहीं पहनते थे और नंगे पैर रहते थे। उन्होंने शारीरिक कठिनाइयां उठा कर उनका अभ्यास कर लिया था। उनका वास्तविक संबंध तो मन और आत्मा से था। शारीरिक सुख उन्हें अच्छा भी कैसे लगता? *उनके जैसा कठोर जीवन यदि किसी गुलाम को भी व्यतीत करना पड़ता तो वह उसे सहन न कर पाता और शीघ्र ही भाग जाता, किन्तु उन्होंने इन कठिनाइयों को कोई महत्त्व नहीं दिया।*

वह सदैव एथेन्स में ही रहे। एथेन्स के बाहर वह बहुत कम गये। देश और राष्ट्र-सम्बन्धी मामलों में उनकी रुचि बहुत ही कम थी। उनकी रुचि के विषय थे—मनुष्य और स्त्रियां, जिनतक उन्हें अपना सन्देश भेजना था। वह प्रायः गलियों में, बाजारों में और सब लोगों के एकत्र होने के स्थानों में जाया करते थे। बस, वहीं उनका कार्य आरम्भ हो जाता था। वह सभी वर्गों और जातियों के व्यक्तियों से बातचीत करते थे। ऊंच और नीच, महान् व्यक्तित्व वाले और साधारण कोटि के, सभी व्यक्ति उनकी बातें सुनते थे और उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे। उनका यह स्वभाव ही होगया था कि वह प्रायः वादविवाद में अपने को बहुत बुद्धिमान मानकर बातचीत नहीं करते थे। बिलकुल साधारण ज्ञान वाले व्यक्ति की भांति वह बोलते थे और बोल-चाल के शब्दों का ही प्रयोग करते थे। वह कहते थे कि सद्गुण-विहीन व्यक्ति किसी काम का नहीं है। यदि प्रयत्न किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति श्रेष्ठ बन सकता है। किंतु सद्गुण-सम्पन्न होकर श्रेष्ठ व्यक्ति बनने

के लिए ज्ञान का होना परमावश्यक है। *वह कहते थे—एक ही पुण्य है और वह ज्ञान है, एक ही पाप है और वह है अज्ञान।* अच्छे घर जन्म लेने से और धनवान होने से ही मनुष्य प्रतिष्ठा का पात्र नहीं बन जाता। उससे तो उलटी बुराई उत्पन्न होती है। ज्ञान ही वास्तविक प्रतिष्ठा का जनक है।

सत्यप्रेम और निडरता

दूसरे दार्शनिकों की भांति उन्हें देशाटन का शौक नहीं था। वह प्रायः घर पर ही रहा करते थे। स्वास्थ्य के लिए वह व्यायाम को बहुत आवश्यक मानते थे। वह स्वयं प्रति-दिन नियम-पूर्वक व्यायाम करते थे। उनकी इच्छा-शक्ति बड़ी प्रबल थी। जिस बात को वह सत्य समझते थे उसे कहने में कभी हिचकते नहीं थे। सत्य को वह सदैव निडर होकर कहते थे। जब वह कौंसिल के सदस्य थे तो कौंसिल के सामने दस सेनापति विचारार्थ उपस्थित किये गए। उनसे कोई अपराध होगया था। कौंसिल का बहुमत उन्हें प्राणदण्ड देने के पक्ष में था, किन्तु उनका यह कार्य न्यायोचित नहीं था। अतएव सुकरात ने अपना मत उनके विरुद्ध दिया। वही अकेले व्यक्ति थे जिनका मत उन्हें मुक्त कर देने के पक्ष में था। इसी प्रकार ई०[illegible] के ४०४ वर्ष पूर्व जब कि एथेन्स-साम्राज्य का अन्त होगया तो वहां के तत्कालीन शासक ने सुकरात को आज्ञा दी कि वह कुछ व्यक्तियों को गिरफ्तार करें। ये लोग निरपराध थे और यह आज्ञा भी नीति के विरुद्ध थी। अतएव सुकरात ने यह जानते हुए भी कि इन्कार करने का परिणाम मृत्यु-दण्ड हो सकता है, इन्कार कर दिया। उस समय यदि प्रजा विद्रोह करके उस शासक को पदच्युत न करती तो सुकरात के प्राण खतरे में पड़ जाते। *अन्तिम दिनों*

में भी जब कि उनके प्राण लिये जाने वाले थे और वह कैद में बन्द थे, तब भाग जाने का अवसर प्राप्त होते हुए भी वह नहीं भागे। उन्होंने भागने से एकदम इन्कार कर दिया। जो मित्र उनके लिए रोरहे थे उनकी उन्होंने बड़ी भर्त्सना की और उन्हें एक अत्युत्तम उपदेश दिया। वह सत्य के एक बहुत बड़े उपासक थे और मृत्यु से बिलकुल नहीं डरते थे। वह सद्गुणों एवं आत्मा की अमरता में बहुत विश्वास रखते थे। धार्मिक मामलों में भी उनके स्वतन्त्र और मौलिक विचार थे। वह पुरानी लकीर के फकीर नहीं थे।

गृहस्थ-जीवन

उनके दो स्त्रियां थीं। पहली स्त्री का नाम माईटौ था और दूसरी का जेथिप्पी। पहली स्त्री से उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे और बाद में दूसरी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उनका जीवन बड़ा सादा था। वह कभी किसी से कुछ मांगते नहीं थे। वह कहा करते थे कि मुझे वही भोजन अधिक प्रिय लगता है जिसके साथ अचार-चटनी की आवश्यकता नहीं पड़ती और वही पेय अच्छा लगता है जिसके पीलेने से किसी दूसरे पेय की आवश्यकता नहीं रह जाती और मैं अपने को देवताओं के अधिक निकट इसलिए समझता हूं कि मेरी आवश्यकता बहुत ही कम है। *एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—"मुझे विवाह करना चाहिए या नहीं?" उन्होंने उत्तर दिया—"आप विवाह करें या न करें, दोनों अवस्थाओं में आपको पछताना पड़ेगा।"*

उन्होंने एक बार कुछ धनी लोगों को भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। जेथिप्पी ने कहा कि मुझे इतना घटिया भोजन परोसते हुए लज्जा आती है। इस पर सुकरात ने कहा कि कोई परवाह नहीं, यदि वह समझदार होंगे तो उन्हें यह

भोजन बुरा नहीं लगेगा, और लगेगा भी तो वह सहन कर लेंगे। किंतु यदि वह मूर्ख हैं तो हमें लज्जा किस बात की ?" *वह कहा करते थे कि दूसरे लोग तो खाने के लिए जीते हैं किन्तु मैं जीने के लिए खाता हूँ।*

कहा जाता है कि जेथिप्पी बड़ी कर्कशा थी। वह सदा उनसे लड़ती-झगड़ती रहती थी, किंतु सुकरात बड़े शांत थे। एक बार वह बहुत बकी और अन्त में उसने मैला पानी लाकर उनपर उंडेल दिया। सुकरात इतना ही बोले—"क्या मैंने नहीं कहा था कि जेथिप्पी इतना गरजने के बाद बिना बरसे न रहेगी।" जब एलसीबिएडस ने कहा कि जेथिप्पी की भर्त्सना असह्य है तो वह बोले—"नहीं, मुझे इसे सुनने की आदत हो गई है। आप भी तो बतखों की घें-घें सुनते हैं या नहीं ?" "परन्तु बतखें तो मुझे अण्डे और चूजे देती हैं।" सुकरात ने कहा—"जेथिप्पी मेरे बच्चों की मां है।"

कहा जाता है कि जेथिप्पी ने बाजार में सुकरात का कोट फाड़ डाला। मित्रों ने सलाह दी कि वह भी उसे पीटें और इस प्रकार उसे इस बुरे कार्य का दण्ड दें। सुकरात ने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। वह कहने लगे—"*जिस प्रकार सईस लोग दुष्ट घोड़ों के साथ रहकर उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार मैं भी एक चिड़चिड़े स्वभाव वाली स्त्री के साथ रहता हूं। परन्तु जिस प्रकार यदि सवार उनपर काबू कर लेते हैं तो दूसरों को आसानी से काबू में रख सकते है; उसी प्रकार जेथिप्पी की संगति से मैं शेष जगत का सामना करना सीखता हूं।*"

किन्हीं लोगों का मत है कि उनकी स्त्री के कर्कशा होने के जो उदाहरण ऊपर दिये हैं उनमें अतिशयोक्ति अधिक है। यदि ये बातें सत्य भी हों तो भी उसे कर्कशा कहना उचित नहीं है। एक गरीब दार्शनिक के साथ विवाह करने वाली

स्त्री के स्वभाव में यदि इस प्रकार कुछ कर्कशता आ जाय तो वह स्वाभाविक ही है। क्योंकि वह दार्शनिक भी ऐसा था कि उसका अधिकांश समय लोगों से बातचीत में ही व्यतीत होजाता था और घर के काम-काज देखने और सुव्यवस्था करने के लिए न उसके पास समय था न रुचि।

एक महान् व्यक्तित्व

सुकरात की उक्तियों को सुनकर लोग प्रायः उनपर झुंझला उठते थे। कभी-कभी तो कोई उनके बाल तक उखाड़ डालते थे। उनका मजाक उड़ाते और अपमान भी करते थे। किन्तु सुकरात समुद्र की भांति गंभीर रहते थे। बड़ी शान्ति के साथ वह सब कुछ सहन कर लेते थे। एक समय लोगों ने उन्हें लातें मारीं, परन्तु उन्हें बिल्कुल क्रोध नहीं आया। एक व्यक्ति उनकी इस सहनशीलता को देखकर चकित रह गया। उसने कहा—"*आपने इसे शान्ति से क्यों सहन कर लिया?*" सुकरात ने कहा—"*यदि गधे हमें लात मारें तो क्या हमें भी उन्हें लात मारनी चाहिए?*"

वह बड़े ही स्वतन्त्रताप्रिय और सच्चरित्र थे। उनकी चरित्र की पवित्रता बड़ी प्रसिद्ध है। एलसीबिएडस नामक एक धनी व्यक्ति ने उन्हें मकान बनाने के लिए बहुत-सी जगह देनी चाही। उन्होंने जगह लेने से इन्कार कर दिया और कहा—"*जब मुझे एक जोड़ा जूते की आवश्यकता हो और आप मुझे पूरी खाल देना चाहें तो क्या उसे लेना मेरे लिए हास्यास्पद नहीं है?*"

वह युवकों को दर्पण देखने के लिए कहा करते थे। *वह कहते थे कि सुन्दर युवकों को दर्पण इसलिए देखना चाहिए कि वे अपने चरित्र को भी सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें और कुरूप युवकों को दर्पण इसलिए देखना चाहिए कि वे अपनी कुरूपता को अच्छी शिक्षा और सच्चरित्रता के द्वारा छिपा सकें।*"

एस चीनस नाम के एक व्यक्ति ने सुकरात से कहा—"*मैं निर्धन हूँ। मेरे पास आपको देने के लिए अपने आपके सिवा और कुछ नहीं है।*" इस पर सुकरात बोले—"*इससे बड़ा दान और क्या हो सकता है ? क्या यह सब से बड़ा दान नहीं है?*" जब उन्हें मृत्यु-दण्ड देदिया गया तो एक व्यक्ति ने उनसे कहा—"आपको दोषी ठहराकर मृत्युदण्ड दिया गया है।" सुकरात ने अविचलित रहकर सरलता से कहा—"क्या उन लोगों के लिए भी ईश्वर की यह आज्ञा नहीं है ?"

मृत्यु-दण्ड और अन्तिम समय

ईसा के ३९९ वर्ष पूर्व उनकी उम्र ७० वर्ष की होचुकी थी। इस समय उनके दुश्मनों को मौका मिल ही गया। उनके ऊपर दो आरोप लगाये गये और मामला चलाया गया। पहला आरोप यह था कि उन्होंने प्रजातन्त्र के स्वामियों की उपेक्षा की और उनमें अविश्वास किया, और दूसरा यह कि उन्होंने नगर के युवकों को बिगाड़ा। लाइसिआस ने, जो कि एथेन्स का उस समय सब से बड़ा वक्ता था, उनके लिए एक जवाबदावा लिखा और उसे सुकरात को दिया। सुकरात ने उसे पढ़ा और नम्रतापूर्वक धन्यवाद देकर कहा—"मैं इसका उपयोग नहीं कर सकता। पेशेवर लोगों की भांति उत्तर देकर मुझे अपना बचाव नहीं करना है। सुन्दर-सुन्दर जूते और वस्त्र दूसरे लोगों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, किन्तु मेरे लिए नहीं। एक दार्शनिक को अपने उच्च विचार एवं आत्म-विश्वास पर दृढ़ रहना चाहिए।" उन्होंने उस जवाबदावे का उपयोग नहीं किया, केवल अपने सिद्धान्त को ही प्रकट किया। उनके पास जो कुछ भी था, वह सब उन्होंने एथेन्स की सेवा में खर्च किया। अपने एथेन्स-निवासियों को सुखी बनाना ही उनका उद्देश्य था। और इसी

कर्त्तव्य को उन्होंने ईश्वर की आज्ञा से पूरा कराने का प्रयत्न किया। इसीलिए जब वह न्यायाधीश के सामने लाये गए तो उन्होंने कहा—"मैंने ईश्वर की आज्ञा से अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। ईश्वर के अधिकारों को मैं तुम्हारे अधिकारों से बहुत बड़ा मानता हूँ।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके इन शब्दों ने न्यायाधीशों को चिढ़ा दिया किन्तु उन्होंने इसकी कोई परवाह न की। उन्होंने कहा—"अगर आप मेरे सामने यह प्रस्ताव रखते हैं कि यदि मैं अपनी सत्य की शोध छोड़ दूं तो मुझे मुक्त कर दिया जायगा तो मैं आपको इसके लिए धन्यवाद दूंगा। किन्तु इस कार्य को कभी भी नहीं छोड़ूंगा। मेरा यह विश्वास है कि यह कार्य मुझे ईश्वर ने दिया है, आपने नहीं। अतएव जबतक मेरे शरीर में थोड़ी-सी भी शक्ति रहेगी और एक भी साँस शेष रहेगी तबतक मैं अपना यह कार्य करता रहूँगा। जब कभी भी मुझे कोई व्यक्ति मिलेगा तो मैं उससे पूछूंगा—'क्या तुम्हें अपनी वैभव-प्रियता और मान-सम्मान पाने की लालसा पर लज्जा नहीं आती, जब कि तुम्हें सत्य और ज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्मा को पवित्र बनाने की बिल्कुल चिन्ता नहीं है।' मैं नहीं जानता मृत्यु क्या है। वह एक अच्छी चीज भी हो सकती है। मैं उससे नहीं डरता। जो बुरा है उसकी अपेक्षा जो अच्छा हो सकता है उसे ही मैं पसन्द करूंगा।" सुकरात के इस वक्तव्य पर वहाँ निन्दा करने वाले बहुत कम थे, किंतु न्यायाधीशों ने उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया। तत्कालीन नियमों के अनुसार अब यह कार्य सुकरात का था कि वह अपने लिए उसके बजाय कोई अन्य दण्ड सुझायें, जैसे निर्वासन आदि। सुकरात ने अपने लिए यह सुझाव पेश किया कि उसे उसी रूप में माना जाय जैसा कि वह है, अर्थात् 'जन-हितचिन्तक', और इस मृत्यु-दण्ड पर उसी

प्रकार भोजों का आयोजन हो और खुशी मनाई जाय जिस प्रकार कि ओलम्पिक के विजयी के लिए मनाई जाती है। अन्त में यह निश्चित हुआ कि यदि वह ३० मिना (तत्कालीन सिक्का) अर्थ-दण्ड देना स्वीकार करलें तो मृत्यु से बच सकते हैं। उनके मित्रों ने यह स्वीकार करने के लिए उनसे बहुत प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। सुकरात के इस निर्णय पर न्यायालय को बहुत बुरा लगा। उसने मृत्यु-दण्ड की आज्ञा देदी। सुकरात ने इसे बड़ी शान्ति से स्वीकार किया और कहा—"अब मेरा विदा होकर मरने का समय पास आगया है, किन्तु इसमें से कौन सच्चे रास्ते पर है, इसे ईश्वर के अतिरिक्त और कौन जान सकता है ?"

किसी धार्मिक उत्सव होने के कारण तीन सप्ताह के लिए यह कार्य स्थगित रहा। इस बीच वह भारी हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर जेल में रखे गए। किन्तु अपने मित्रों का वह उसी प्रकार स्वागत करते और उसी प्रसन्नता से उनसे बातचीत करते थे।

जिस दिन उन्हें विष का प्याला पीना था, वह दिन उन्होंने मित्रों से बातें करते-करते बिता दिया। उनकी पत्नी अपने बच्चों को लिए रोती हुई आई। उन्होंने अपने मित्र क्रीटो से कहा कि इसे घर भिजवा दे। शोक-विह्वल जेलर विष का प्याला लाया और उन्होंने शान्ति के साथ उसे पी लिया। जब मित्रों ने देखा कि विष खत्म होगया तो वे अपने शोक को न रोक सके। उस समय अकेले सुकरात ही शांत थे। वह बोले—"इस प्रकार रोने और चिल्लाने की क्या आवश्यकता है ? मनुष्य को शान्ति से मरना चाहिए, अतएव शांत रहिये और धैर्य रखिये।" जबतक उनकी टाँगों में शक्ति रही वह चलते रहे और फिर लेट गए। इस प्रकार एक बहुत बड़ा दार्शनिक इस

संसार से विदा होगया।

सुकरात का जीवन आदर्शों का जीता-जागता नमूना था। उनके विचार युगान्तर-कारी थे। सिसरो ने लिखा है—"वह दर्शन को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाये थे।"

: ४ :

कन्फ्यूशियस

जीवन का कलाकार

आचार्य कन्फ्यूशियस (कुंग-फू-त्जे) का जन्म हुए २४०० वर्ष से भी अधिक हो गए किन्तु उनकी कीर्ति-पताका देश-काल के बन्धनों को तोड़कर आज भी सर्वत्र स्वच्छन्दता से फहरा रही है। उसका जन्म उस युग में हुआ जिसे हम धार्मिकता का युग कह सकते हैं, क्योंकि उस काल में धार्मिक भावनाओं की ही प्रधानता थी और केवल धार्मिक व्यक्तियों को ही आदर-सम्मान मिला था। किन्तु कन्फ्यूशियस उन आचार्यों में से हैं जिनमें 'धार्मिकता' बहुत कम थी। एक लेखक ने तो यहां तक लिखा है कि उनमें धार्मिकता थी ही नहीं, क्योंकि उन्होंने कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी। इसका यह अर्थ नहीं कि वह नास्तिक थे। वह उन व्यक्तियों में से थे जिन्हें धार्मिक मामलों में रुचि नहीं थी। जन्म के पहले मनुष्य कहां था और मृत्यु के बाद कहां जायगा, इन प्रश्नों और समस्याओं में वह कभी नहीं उलझे। *वह तो जीवन के कलाकार थे। जीवन कैसा होना चाहिए यही उन्होंने बताया। प्रायः हम बोलते बहुत हैं और करते कम। हमारे शब्दों में और कर्मों में साम्य नहीं होता। कन्फ्यूशियस*

का कहना था कि हम जो बोलें वही हमें करना चाहिए। अपने जीवन में इन्होंने उसे पूरा करके दिखा दिया। वह आदर्शवादी थे और कार्य-कुशल भी। अपने आदर्शों को वह केवल कहकर ही प्रकट नहीं करते थे बल्कि व्यावहारिक जीवन में उनका पालन भी करके दिखाते थे। हमारे समाज में आज बड़ी-बड़ी बातें करने वाले बहुत हैं, किन्तु जब कुछ करने का समय आता है तो वे अपने आदर्श से गिर जाते हैं। इस दृष्टि से आचार्य कन्फ्यूशियस का चरित्र इतने वर्षों के बाद आज भी हमारे लिए नया है; आज भी हम उससे बहुत कुछ सीख सकते हैं।

जन्म और बाल्यकाल

ईसा के १२२५ वर्ष पूर्व तक चांग वंश ने चीन में एकछत्र राज्य किया। चांग वंश का शासन धर्म-प्रधान था। परन्तु इस वंश के शासन का अन्त होते ही चीन की अखण्डता नष्ट हो गई और ईसा से पूर्व की छठी शताब्दी तक वह कई हजार छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। इसी प्रसिद्ध वंश में ईसा के ५५० वर्ष पूर्व कन्फ्यूशियस का जन्म हुआ। उनका पिता एक जिले का किलेदार था। वह बड़ा ही सम्माननीय था। उसके बहुत-सी कन्याएं थीं, किन्तु पुत्र नहीं था। अतः पुत्र की अभिलाषा से उसने ७० वर्ष की अवस्था में दूसरा विवाह किया। इस दूसरे विवाह के द्वारा उसकी इच्छा पूरी हुई और तत्कालीन लू राज्य में कन्फ्यूशियस का जन्म हुआ। प्राचीन काल में महापुरुषों के जीवन के सम्बन्ध में जिस प्रकार अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएं वर्णन की जाती हैं, उसी प्रकार कन्फ्यूशियस के सम्बन्ध में भी कई कहानियां प्रचलित हैं। इनसे यह प्रतीत होता है कि बाल्यकाल में ही कन्फ्यूशियस

की असाधारणता के चिह्न प्रकट होने लगे थे।

कन्फ्यूशियस की अवस्था तीन वर्ष की भी नहीं होने पाई थी कि उनके पिता का देहान्त हो गया। बाल्य-काल में ही पिताजी की मृत्यु हो जाने से कन्फ्यूशियस को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु इन विषम परिस्थितियों में जीविका के लिए कार्य करते हुए भी वह विद्याध्ययन करते रहे। साधारण बालकों की भांति केवल पढ़ने-लिखने की ओर ही उन्होंने ध्यान नहीं दिया बल्कि अपनी पढ़ी हुई बातों को जीवन में उतारने का प्रयत्न भी करते रहे। कहते हैं कि केवल १४ वर्ष की आयु में ही उन्होंने महात्मा के पद पर पहुँचने का निश्चय कर लिया था।

विवाह

उन्नीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ और थोड़े ही समय में उनकी पत्नी ने दो कन्याओं तथा एक पुत्र को जन्म दिया। गृहस्थी का भार आ जाने पर भी उनका विद्या-प्रेम उसी प्रकार बना रहा। विवाह के कुछ समय बाद ही उन्होंने सरकारी नौकरी करली। किन्तु २२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने इसे छोड़ दिया और एक पाठशाला की स्थापना की, जिसमें वह शासन के सिद्धान्त और सदाचार की शिक्षा देते थे।

अध्यापन

पाठशाला अच्छी तरह चल रही थी। वहां धनी और निर्धन विद्यार्थियों में कोई अन्तर नहीं था। विद्यार्थियों की एकमात्र कसौटी तो उनकी योग्यता और उत्साह था। कुछ धनी विद्यार्थियों से ही निर्वाह के योग्य धन ले लिया जाता था। पाठशाला चारों ओर प्रसिद्ध होने लगी और साथ-ही-साथ

एक अच्छे आचार्य और शासक के रूप में कन्फ्यूशियस की कीर्ति भी चारों ओर फैलने लगी। वह एक बहुत बड़े सुधारक थे। रूढ़ि और परम्परागत बुराइयों का विरोध करने में वह कभी नहीं हिचकते थे। रूढ़िवादी लोग पुरानी परम्पराओं को नहीं छोड़ना चाहते, किन्तु कन्फ्यूशियस का कहना था कि जो शासक इन बुराइयों को हटाकर सुधार करने से नहीं डरता, वही सफल कहा जा सकता है। दर्शनशास्त्र और इतिहास का उन्होंने बड़ा गहरा अध्ययन किया था और प्राचीन साहित्य के भी वह बहुत बड़े ज्ञाता थे। अपने इस गहरे अध्ययन के आधार पर इन्होंने राजनीतिशास्त्र और नैतिक-व्यवहार-शास्त्र के सिद्धान्तों का बड़ा ही विधिपूर्वक निरूपण किया और अपने विद्यार्थियों को इसकी शिक्षा दी।

राजधानी को प्रस्थान

ईसा के ५१७ वर्ष पूर्व लू राज्य के दो उच्च-पदाधिकारी युवक उनके शिष्य हो गये। इनके साथ वह लू राज्य की राजधानी चले आये। यहां के पुस्तकालय में उन्होंने संगीत-कला का अध्ययन और इतिहास का अन्वेषण-कार्य किया। वह संगीत-कला पर मुग्ध थे और उसमें इतने तन्मय हो जाते थे कि भोजन करने तक की सुध नहीं रहती थी। राजधानी की इसी यात्रा में वह अपने समकालीन एक दार्शनिक प्रतिद्वन्द्वी लाओ-त्से से मिले। यह व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से कन्फ्यूशियस से बिलकुल विपरीत था, किन्तु यश में उनका प्रतिद्वन्द्वी था। इसने चीन में एक धर्म की स्थापना की थी, जो कि वहां के तीन प्रधान धर्मों में से एक है। इन व्यक्तियों के दृष्टिकोण और विचारों में काफी असमानता थी। *वह स्वप्नदर्शी, आदर्शवादी, रहस्यवादी और आस्तिक था। उसका विश्वास था कि यदि मनुष्य*

सांसारिक इच्छाओं को छोड़ दे तो उसे सत्य की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु इसके विपरीत कन्फ्यूशियस व्यावहारिकता के प्रतिपादक थे। सगुणोपासना में उनका विश्वास नहीं था। वह तो निराकार के भक्त थे। आत्मोन्नति और सद्गुणों की प्राप्ति के लिए वह इसी निराकार और निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते थे। कहते हैं लाओ-त्से की शिक्षाओं का कन्फ्यूशियस पर भी कुछ प्रभाव पड़ा।

निर्वासित राजा के साथ

राजधानी में उनका काम बड़ी अच्छी तरह चल रहा था। परन्तु अकस्मात वहां एक ऐसी क्रांति हुई जिसके परिणामस्वरूप लू राज्य के अधिपति को वहां से भागना पड़ा। कन्फ्यूशियस भी उसके साथ चल दिये। इस यात्रा में उन्हें एक पहाड़ के नीचे एक स्त्री दिखलाई दी जो एक कब्र के पास शोक-संतप्त पड़ी थी। कन्फ्यूशियस ने अपने शिष्य को उसके दुःख का कारण जानने के लिए भेजा। स्त्री ने सिसकते हुए अपनी करुण कथा उसे कह सुनाई। उसके ससुर को इसी स्थान पर एक चीते ने मार डाला था और फिर उसके पति और पुत्र का भी यही हाल हुआ था। शिष्य ने उससे पूछा कि उसने ऐसे भयावह स्थान को छोड़ क्यों नहीं दिया, तो उसने उत्तर दिया कि वहां का शासक कठोर नहीं था, अतः वह उस स्थान को नहीं छोड़ना चाहती थी। जब शिष्य ने आकर सारा हाल कन्फ्यूशियस को सुनाया तो उन्होंने कहा—"मेरे शिष्यो! इस बात को याद रखो कि कठोर शासन चीते से भी अधिक भयंकर होता है।"

शिष्य-मंडली

इसके बाद निर्वासित राजा का साथ छोड़कर कुछ समय

तक वह स्वतंत्र रूप से इधर-उधर भ्रमण-यात्रा करते रहे। वह *जहां कहीं जाते सद्गुण, सदाचार तथा सुशासन के नियमों का उपदेश करते थे*। उनकी शिष्य-मंडली उनके साथ ही रहती थी और उसकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। ये शिष्य उनके बड़े भक्त थे। जो कुछ उनके मुंह से निकलता उसे वे लोग लिख लेते थे और उनकी प्रत्येक बात का अध्ययन करते थे। इसके फलस्वरूप कन्फ्यूशियस के उपदेशों का संग्रह आज हमें ग्रंथों के रूप में उपलब्ध है।

व्यक्तित्व

कन्फ्यूशियस का कद ऊंचा था। वह सादा भोजन पसन्द करते थे और खाते समय मौन रहते थे। भोजन के समय गाना सुनना उन्हें बड़ा प्रिय था। वह मित-भाषी और व्यावहारिक सभ्यता में दक्ष थे। उनका एक-एक शब्द मूल्यवान था। उनमें ममत्व अधिक नहीं था। अतः उनके व्यवहार में कुछ रूखापन था। उनका स्वभाव एकान्त-प्रिय तथा गंभीर था। नियमों के पालन में वह बड़े कट्टर थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व में लोगों का आदर प्राप्त कर लेने और अपना भक्त बना लेने का एक अपूर्व जादू-सा था। किन्तु कोई भी उनसे घनिष्टता स्थापित नहीं कर सकता था। और न कोई उनका मित्र ही बन सकता था। *उनका बौद्धिक स्तर इतना ऊंचा और चरित्र की पवित्रता इतनी अधिक थी कि साधारण मनुष्य-समाज की पहुँच के बाहर की बात थी।*

सफल शासक

वह कोरे ज्ञानी ही नहीं थे। कार्य-कुशलता उनका एक बहुत बड़ा गुण था। जब वास्तव में शासक का भार उनके कन्धों पर पड़ा तो उसमें भी वह बहुत सफल हुए। लगभग

४२ वर्ष की आयु में वह पास के ही एक राज्य के चुंगटू नामक नगर के गवर्नर बनाये गये। इस पद पर उन्होंने इतनी योग्यता से काम किया कि सब लोग चकित रह गये। बड़ी शीघ्रता से वह राज्य के सर्वोच्च पद पर पहुँच गये। जल्दी-जल्दी बदलने और बिगड़ने वाले शासन का तो मानो अन्त ही हो गया और दुराचार तथा बेईमानी दूर भाग गये। लोगों में राज-भक्ति और शासन में विश्वास निरन्तर बढ़ता गया और स्त्रियों में पवित्रता तथा पातिव्रत धर्म। वह देवता-तुल्य माने जाने लगे और उनकी कीर्ति गीतों में गाई जाने लगी। यह सब उनकी तपस्या और उनके शिष्यों के कठिन परिश्रम का परिणाम था। उन्होंने गरीबी मिटाने के लिए बहुत प्रयत्न किया और कम-से-कम गरीबों को भूखों मरने के कष्ट से बचाने में तो वह अवश्य सफल हुए। उन्होंने युवा और वृद्ध लोगों के लिए अलग-अलग प्रकार के भोजन की व्यवस्था की। इसी प्रकार उनके लिए अलग-अलग कार्यों की भी व्यवस्था करना उनका ही कार्य था। वस्तुओं की कीमत निश्चित कर दी गई और भूमि-कर के रूप में मिले हुए द्रव्य का उपयोग व्यापार की उन्नति के लिए किया गया। यातायात के साधन बढ़ाये गये तथा सड़कों और पुलों की मरम्मत भी करा दी गई। उन्होंने धनी लोगों की शक्ति इतनी नहीं बढ़ने दी कि वे साधारण जनता का शोषण कर सकें और उन्हें सता सकें। *उनके शासनकाल में सबके साथ समानता का व्यवहार होता था। इस दिशा में उनकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जहाँ एक ओर उन्होंने साधारण जनता को प्रसन्न किया वहाँ उनकी नीति से धनिकवर्ग भी असन्तुष्ट नहीं हुआ।* सुधारों में बाधा डालने वालों के साथ बड़ा कड़ा व्यवहार होता था। इसी कारण उनके शासन में सर्वत्र शान्ति रही।

राज्य छोड़कर शिष्यों के साथ भ्रमण

कन्फ्यूशियस की इस सफल नीति-कुशलता से पास के राज्य का राजा बहुत घबराया। अपने पड़ोस में एक आदर्श राज्य देखकर उसे यह भय हुआ कि कहीं उसके राज्य के लोग भी वैसे ही शासन-सुधार की मांग कर विद्रोह न कर बैठें। उसे यह भी भय हुआ कि यह निकटवर्ती शक्तिशाली राज्य किसी समय आक्रमण भी कर सकता है। अतः उसने एक कारगर युक्ति ढूंढ निकाली। उसने ८० सुन्दर नवयुवतियां चुनीं जो संगीत और नृत्य में कुशल थीं। इन युवतियों को कुछ बढ़िया घोड़ों के साथ अपने पड़ोसी राजा के पास भेंटस्वरूप भेजा। राजा और उसके मन्त्रिगण इस प्रलोभन में पड़ गये। शासन में ऐसा ढीलापन आ गया जो कन्फ्यूशियस के रोके न रुक सका। अतः इच्छा न होते हुए भी उनको वहां से चले जाने का विचार करना पड़ा और एक दिन वह अपने शिष्यों के साथ निकल पड़े। अपनी सफलता और लोकप्रियता के कारण उन्हें आशा थी कि उन्हें लोग वापस बुलाने के लिए आवेंगे। किन्तु जब बहुत दूर निकल जाने पर भी कोई उन्हें लौटा ले जाने को नहीं आया तो उन्हें कुछ निराशा हुई। इस प्रकार तीन वर्ष शासन करने के बाद उन्हें तेरह वर्ष इधर-उधर भटकना पड़ा। इन दिनों वह एक राज्य से दूसरे राज्य में फिरते रहे। वह चाहते थे कि कोई सुधार-प्रिय राजा उन्हे शासन संभालने के लिए निमन्त्रण दे; किन्तु किसीने उन्हें नही बुलाया। उनके जीवन के ये वर्ष बड़ी निराशा और असफलता में बीते। बहुत से राज्यों में उनका शानदार स्वागत भी हुआ और उनसे यह भी प्रार्थना की गई कि वह अपने निर्वाह के लिए कुछ स्थायी वृत्ति स्वीकार कर लें; परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि—"श्रेष्ठ पुरुष

सदैव अपने श्रम से उपार्जित द्रव्य ही अपने काम में लेते हैं। इस अवस्था में रूखा-सूखा खाकर पानी पी लेने और हाथ का तकिया बनाकर सोने में ही मुझे आनन्द है किन्तु किसीके आभार में रहकर अथवा अधर्म से रुपया लेकर उसका उपयोग करना मैं नहीं चाहता।" उनपर बहुत-सी विपत्तियां आईं, परन्तु वह तनिक भी विचलित नहीं हुए। एक दिन खाने के लिए कुछ नहीं था। इससे उनके शिष्य को बड़ा दुःख हुआ और उसने अपने आचार्य से प्रश्न किया—"क्या श्रेष्ठ पुरुषों को इसी प्रकार कष्ट सहन करना चाहिए?" उन्होंने बड़ी ही शांति से उत्तर दिया "श्रेष्ठ पुरुषों के लिए इससे भी कठिन समय आ सकता है। यह कठिनाइयां ही उनकी श्रेष्ठता की कसौटी हैं। साधारण व्यक्ति इस प्रकार की परिस्थितियों में ही अपना धैर्य खो देता है।"

दुबारा शासन-भार अस्वीकार

अन्त में जिसके लिए वह पहले अत्यन्त उत्सुक रहते थे, वह अवसर आया। उन्हें उसी राज्य का शासन-भार सम्भालने का फिर निमन्त्रण मिला। पहला शासक मर चुका था और अब उसका पुत्र गद्दीनशीन हुआ था। एक दिन उसने अपने एक सेनापति के मुंह से यह सुना कि उसमें जो कुछ योग्यता है उसका सारा श्रेय आचार्य कन्फ्यूशियस को है। यह सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ और उसने कन्फ्यूशियस को बुलाने के लिए आदमी भेजे। किन्तु अब उनकी अवस्था लगभग ७० वर्ष की हो चुकी थी। इतने दिनों के कष्टमय जीवन ने उन्हें और भी दुर्बल बना दिया था। वह लौटे तो, किन्तु लौटकर उन्होंने शासन-सूत्र अपने हाथ में नहीं लिया। अब उन्होंने शांति के साथ काल-यापन करने का निश्चय कर लिया।

अन्त-काल

उनके जीवन-काल के अब केवल पांच ही वर्ष शेष थे। इन दिनों वह अपने शिष्यों को शिक्षा देते रहे और इसी समय उन्होंने अपने "वसन्त और पतझड़" नामक ग्रन्थ की रचना की। यह उनका मौलिक ग्रन्थ है और काफी प्रसिद्ध है।

ईसा के ४७८ वर्ष पूर्व, ७३ वर्ष की आयु में वह परलोक सिधारे। अपने अन्तिम समय में उन्होंने बड़े दुःख के साथ कहा था—"एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो पूरी तरह मुझे पहचान सका हो। और कोई ऐसा राजा भी नहीं है जो मुझे अपना पथ-प्रदर्शक मानकर अच्छे शासन के राजमार्ग पर चलने के लिए उत्सुक हो।" यद्यपि किसी शासक ने उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक नहीं बनाया तथापि उनके शिष्यों ने उनके प्रति जो भक्ति दिखाई वह राजाश्रय से बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण है। मृत्यु के बाद तीन वर्ष तक उनके शिष्य उनकी समाधि के पास शोक मनाते रहे। उनकी कीर्ति इन तीन वर्षों में दूर-दूर तक फैल गई। आज तो चीन ही नहीं संसार के सभी देशों के लोग उनके उपदेशों से लाभ उठाकर अपने जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करते हैं।

अमर-कीर्ति

मृत्यु के दो हजार वर्ष बाद एक राजा ने कन्फ्यूशियस की कीर्ति को नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। उसने उनके ग्रन्थ जलवा डाले, उनके सिद्धान्तों का अध्ययन करना बन्द करवा दिया और उनके आदर्शों पर चलने वालों को कष्ट भी दिया। किंतु वह सफल नहीं हुआ। कन्फ्यूशियस का नाम और उनके सिद्धान्त एक अमर वस्तु बन चुके थे। *हुआ यह कि बाद के*

राजाओं ने कन्फ्यूशियस के सिद्धांतों को अपनाया और उन्हीं आदर्शों पर अपने राज्यों की व्यवस्था की। आज चीन में उनपर श्रद्धा रखने वालों की एक बहुत बड़ी संख्या है। उनके आदर्शों पर चलकर करोड़ों व्यक्ति अपने जीवन को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कन्फ्यूशियस ने किसी धर्म या वाद को चलाने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि उन्होंने समय-समय पर इसका विरोध ही किया है। उनका कहना था कि उन्होंने कोई नई बात नहीं दी। उन्होंने तो केवल उन्हीं पुरानी बातों को अच्छे रूप में सामने रख दिया है।

: ५ :

गुरुदेव

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर]

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरा-मरणजंभयम् ॥

उन सत्कर्म करने वाले रससिद्ध कवीश्वरों की जय हो, जिनके यशरूपी शरीर को जरा या मृत्यु का भय नहीं है।

—भर्तृहरि

पुण्यदर्शन

प्रयाग का एक सभा-भवन। १९१३ या १४ में आपको चलना होगा। खचाखच भीड़। नंगी खोपड़ियों का तांता। सबके चेहरों पर कृतज्ञता और आत्म-सम्मान का गौरव। एक गैलरी में मैंने अपने को खोया हुआ पाया। मैं मैट्रिक में

पढ़ता था। उत्सुकता झुंझलाने लगी; प्रतीक्षा थकने लगी। एकाएक नीचेवालों की निगाह दरवाजे की ओर गई। कोसे की धोती, कोसे का लम्बा कुर्ता, ऊपर कोसे की ही चादर पड़ी हुई—एक शांत, भव्य, प्रसन्न मूर्ति आती दिखाई दी। विशाल आंखें, उन्नत ललाट, शानदार दाढ़ी, खुला सिर। बीसवीं सदी में यह उपनिषद्-काल का ऋषि ही तो भूल-कर नहीं आ गया। वाल्मीकि की प्रतिमूर्ति ही तो नहीं है। सबने इन्हें आदरपूर्वक प्रणाम किया। वह मृदुल गम्भीर स्वर में बोले। मैं न सुन सका, न समझ सका; पर उस सारे दृश्य को देखकर गद्गद् हो गया। जिन्होंने भारतवर्ष का नाम बढ़ाया, दुनिया ने जिसके कवित्व की दाद दी, भारतीय संस्कृति जिसके रोम-रोम से बोल रही थी, ऐसे महान् व्यक्ति के दर्शन से मैंने अपने को कृतार्थ माना। 'गुरुदेव' के ये प्रथम दर्शन थे। उस समय शायद वह पहले भारतवासी थे जिन्होंने संसारवासियों के मन में अपने लिए मान का स्थान प्राप्त किया।

मुझे रोम्या रोलां का वह वाक्य याद आता है कि *गांधी और रवीन्द्रनाथ एक हिमालय से निकल कर पूर्व और पश्चिम में बहने वाली गंगा और सिंधु के सदृश दो धाराएं हैं। रवीन्द्र और गांधी संसार को आर्य संस्कृति की दो महान् देन हैं। एक में उसके हृदय की सुकुमारता और दूसरे में उसकी आत्मा की तेजस्विता चमक रही है। दोनों इतने महान् हैं कि हमारी स्थिति कबीर की तरह हो जाती है—"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पांय।"*

गुरुदेव के दर्शन से पवित्र होकर, आइए, अब हम उनके चरित्र का अवलोकन करें। कविवर वैसे बनर्जी-कुल के हैं, किन्तु समाज में माननीय होने के कारण उनका वंश ठाकुर कहलाता है। टैगोर इसीका अंगरेजी मुलम्मा चढ़ा हुआ

रूप है। यह टैगोर-कुल केवल बड़े जमींदार के ही नहीं, किन्तु कला और साहित्य के उच्च मर्मज्ञों के रूप में भी बहुत दिनों से प्रसिद्ध रहता आ रहा है। विगत शताब्दि में जो सांस्कृतिक एवं सामाजिक सुधार हुए हैं उनसे ठाकुर-कुल का गहरा संबन्ध रहा है। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और पितामह द्वारकानाथ ठाकुर ब्रह्म-समाज के बहुत आगे बढ़े हुए सदस्यों में से थे। *वह मूर्तिपूजा और अन्धविश्वासों के कट्टर विरोधी थे। यह उनके ही सतत परिश्रम का फल था कि ब्रह्मसमाज वर्तमान भारतीय जीवन पर अनेक प्रकार के गहरे प्रभाव डाल सका।* कहा जाता है कि इसी वंश के कुछ व्यक्तियों ने मुसलमानों के साथ भोजन करके जाति के नियम को भंग किया था। विदेश-यात्रा के सम्बन्ध में भी उस समय जाति की ओर से कड़ी पाबन्दी थी। द्वारकानाथ पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इंग्लैंड जाकर इस पाबन्दी को तोड़ा। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस आत्म-स्वातन्त्र्य को कायम रखा। किन्तु वह अपने पिता की भांति भारतीय अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के इतने कट्टर विरोधी नहीं थे। धीरे-धीरे उनमें आध्यात्मिक विचारों की प्रधानता होने लगी। प्रार्थना और तपस्या की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ती गई। उन्होंने हिमालय की उच्च पर्वत श्रेणियों में बहुत भ्रमण किया। एक बार अपने ६ वर्षीय बालक रवीन्द्रनाथ को भी अपने साथ ले गये थे।

बालपन

रवीन्द्रनाथ का जन्म मंगलवार ७ मई को ३ बजे प्रातःकाल कलकत्ते में हुआ। इनकी माता का नाम शारदा देवी था। ये अपने पिता की १४ वीं सन्तान थे। इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ को प्रारम्भिक स्फूर्ति अपने पिता से ही मिली।

वह प्रायः उनके पास बैठा करते थे। अपने पिता के ध्यान के समय वह उनके पास खेला करते थे। उस समय जो भी नई चीजें वह देखते थे वे सब उनके लिए नई खोजें थीं। *इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने पिता से ध्यान, प्रार्थना, एकान्त-प्रेम, शान्ति आदि बहुतसी महत्त्वपूर्ण बातें सीखीं जिनसे उनके मनुष्यत्व का विकास हुआ।*

बाल्यकाल में ही उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। पिता आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित हो चुके थे अतएव उन्हें बाल्यकाल में सुख नहीं मिला। नौकरों की देख-रेख में उनका बहुत-सा समय बीता। विद्याध्ययन के लिए उन्हें स्कूल भेजा गया, किन्तु उनका मन स्कूल की पढ़ाई में न लगा। लाचार उन्हें घर पर ही पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया। १८७३ ई० में उनका उपनयन संस्कार हुआ। इसी वर्ष उन्होंने 'पृथ्वीराज पराजय' नामक नाटक की रचना की। दूसरे वर्ष १८७४ ई० में उन्होंने शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक मैकबेथ का बंगला में अनुवाद किया। अब वह धीरे-धीरे कविता, कहानी आदि भी लिखने लगे।

दिव्य प्रकाश

सन् १८७७ में उन्होंने पहली बार इंगलैण्ड की यात्रा की। वह पहले तो ब्राइटन स्कूल में भर्ती हुए। फिर उसे छोड़कर यूनिवर्सिटी कालेज लंदन में भर्ती हुए। इस शिक्षा से उन्हें संतोष नहीं हुआ और वह एक वर्ष बाद भारत आ गये।

रवीन्द्रनाथ बचपन से ही प्रतिभाशाली थे। बौद्धिक प्रतिभा के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक विचारों की एक गहरी धारा उनके भीतर प्रकाशित हो रही थी। उन्हें प्रकाश किस प्रकार मिला वह निस्संदेह आश्चर्यपूर्ण है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"सूर्य देवता सामने के वृक्षों से झांक रहे थे। मैं उनका स्वागत करने अपने तिमंजिले मकान के छज्जे पर दौड़ गया। वृक्षों पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। इस समय एकाएक मुझे दिव्य प्रकाश मिल गया। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु इस समय एक ही प्रतीत होती थी—सारा विश्व एक दिखाई देता था। सब चेतन जगत—यह सारा जीवन प्रकाश और प्रेम से परिपूर्ण दिखाई देने लगा। इस अपूर्व दृश्य का वर्णन मानवी शक्ति के परे है। सूर्य की किरणें हर्ष और सौंदर्य से उत्फुल्ल प्रतीत होने लगीं। *प्रकृति का घूंघट हट गया। दूर से दूर, इस सिरे से उस सिरे तक प्रकाश और सौंदर्य की असीमता ही दिखाई देती थी। इससे मुझमें इतना आनन्द आ गया कि उसने लगभग पीड़ा का रूप प्राप्त कर लिया था।* पड़ोसी मानवी प्रेम से अभिभूत प्रतीत होने लगे। मैं सड़क के एक दीन भिखारी को भी बड़े प्रेम से देखता था और मेरा हृदय उसके प्रति सहानुभूति से भर जाता था मैंने बच्चे को अपने साथी के गले में बाहें डालते हुए देखा और यह दृश्य मेरे हृदय में इतना चुभा कि आंखों से आंसू निकल पड़े।

"यह अन्तर्दृष्टि—यह प्रकाश जो कि समुद्र या पृथ्वी पर कभी नहीं था—निरन्तर मेरे साथ रही और अपना सारा जीवन आनन्द की अनुभूति में लगाने का मैंने विचार किया। मेरे बड़े भाई ने मुझे अपने साथ चलकर दार्जिलिंग के चमत्कारपूर्ण प्राकृतिक दृश्यों को देखने के लिए कहा। मैं उनके साथ पहाड़ पर गया; किन्तु मुझे यह कहते हुए हंसी आती है कि मैं गलती पर था। सारा आनन्द खिसक गया। हरएक चीज पीछे रह गई और दिन के प्रकाश के साथ लुप्त हो गई। बजाय इसके कि और अधिक प्रकाश देखूं सारा आनन्द मिट गया। उस समय मेरे आध्यात्मिक ध्येय में जो बाधा पड़ी वह

मेरे जीवन का सबसे गहरा सबक है। *इसका प्रयोजन यह कि हमें अपने रास्ते से जीवन की शोध करने की आवश्यकता नहीं है। उसे ही हमारी खोज करनी चाहिए। इस बात की आवश्यकता है कि हम उसके मार्ग से उसका अनुभव करें। मनुष्यों से दूर— पहाड़ों में खोजने के बजाय गरीबों के बीच हमें उसका पता लगाना चाहिए।"*

इसी भाव को श्री रामनरेश त्रिपाठी ने बड़ी खूबी से बयान किया है। भगवान भक्त से कहता है —

"मैं ढूंढ़ता तुझे था, जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।"

१५ वर्ष की अवस्था के पूर्व से ही वह लिखने लग गये थे। अपने आरम्भिक काल में ही वह अच्छी रचनाएं करने लगे थे। उत्तरोत्तर उनकी रचनाएं उनकी प्रतिभा का परिचय देने लगीं और जल्दी ही उनकी धाक बंगाली साहित्य पर बैठ गई।

कवित्व का विकास

९ दिसम्बर सन् १८८३ को मृणालिनी देवी के साथ उनका विवाह हुआ। साहित्यिक कार्यों में वह अब अधिक प्रवृत्त हुए और अपनी साहित्यिक योग्यता के कारण वह लोकप्रिय होने लगे। कुछ लोग उनको 'बंगाल के शेली' के नाम से पुकारने लगे। १८९१ में उनकी 'मानसी' नामक एक प्रौढ़ रचना प्रकाशित हुई। वृद्ध पिता ने रवीन्द्रनाथ को कलकत्ता छोड़कर गांव के शान्त वातावरण में रहने की सलाह दी। अतएव वह अपनी जमींदारी के स्यालदा नामक ग्राम में, जो गंगा के किनारे है, जाकर रहने लगे। यहां रवीन्द्रनाथ के जीवन के सबसे अधिक सुखी दिन बीते। वह कभी-कभी अपनी नाव में बैठकर गंगा के बीच के रेतीले मैदान में चले

जाते, जो कहीं-कहीं किनारे से ३ मील दूर है। वह वहां अकेले ही प्रकृति से अपने हृदय का सम्बन्ध स्थापित करने में तल्लीन हो जाते थे। उन्होंने वहां बहुत ही सुन्दर रचनाएं कीं किन्तु इस प्रकार एकान्तप्रियता एवं कल्पना के लोक में विचरण करने के साथ ही वह गांव की वास्तविक परिस्थिति से उदासीन नहीं रहे। अपनी जायदाद के अच्छे प्रबन्ध की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया और ग्रामों की समस्याओं का भी अध्ययन किया। इस समय वह ऐसे अच्छे प्राकृतिक दृश्यों के बीच में थे, जिनको वह अधिक चाहते थे और जिनका उन्होंने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। विस्तृत एवं शस्यश्यामल मैदान, सुन्दर नहरें और पक्षियों का कलरव उनको बहुत आकर्षित करता था। प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर लेने में एवं अपनी प्रतिभा के विकास में यहां उन्हें पर्याप्त शान्ति और समय मिला।

यहां का समय सफलता एवं सुन्दर रचनाओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लगभग चार वर्षों तक उन्होंने निरन्तर एक-से-एक अच्छे निबन्ध, कहानियां और कविताएं ही नहीं लिखीं किन्तु अच्छे नाटक भी लिखे। 'बलिदान' बंगला साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। चित्रांगदा भी अपने ढंग की एक बेजोड़ रचना है। उनके गीति-काव्यों की श्रेष्ठता भी अपनी चरमता पर पहुंचने लगी थी। उनका 'सोनारतरी' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। जिसमें उनके रहस्यवादी विचारों का अच्छा विकास दिखाई देता है। इसके दो वर्ष बाद 'चित्रा' और फिर 'उर्वशी' प्रकाशित हुई। ये रचनाएं विश्वसाहित्य में सौंदर्य-पूजा की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

स्वदेश-भक्ति

रवीन्द्रनाथ का हृदय देश-प्रेम से परिपूर्ण था। वह विदेशी

शोषण के विरोधी थे। काका कालेलकर के शब्दों में देशभक्ति उनका व्यसन नहीं किन्तु स्वभाव था। उस समय देश में दो प्रकार के लोग थे। एक प्रकार के लोग मानते थे कि—"हम गिरे हुए हैं, इसलिए जो कुछ हमारा है, सब कूड़ा-कर्कट है, उसे साफ करके हमें अपने राजकर्ताओं का अनुकरण करना चाहिए।" उनकी संकीर्ण-बुद्धि में यह नहीं आया कि अन्धानुकरण ही मरण है। अन्धानुकरण का जीवन कृत्रिम होता है, अपमानकारक होता है और होता है अत्यन्त ही हास्यास्पद। इसके विपरीत दूसरा पक्ष कहता था—"अंग्रेज बुरे हैं। उनकी संस्कृति बुरी है, उनसे द्वेष रखना चाहिए, उन्हें गालियां देनी चाहिए। हमारा सब कुछ बढ़िया है, हम लोग तो संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हैं। हमें दूसरों से क्या सीखना है?" किन्तु इन लोगों के भी ध्यान में नहीं आया कि यह वृत्ति भी उतनी ही कृत्रिम और खोखली है। रवीन्द्रनाथ इन दोनों का त्याग करने को कहते थे—"तुम अपने को पहचानो। अपना जीवन शुद्ध और समृद्ध करो। तपस्या से तुम्हारी शक्ति अपने आप बढ़ने लगेगी, फिर किसीकी ताकत नहीं जो तुम्हारा अपमान करे।"

वह चाहते थे कि भारत के प्राचीन आदर्शों को फिर जाग्रत और जीवित करना चाहिए। उन्होंने आर्यों की सभ्यता तथा उपनिषदों पर व्याख्यान दिये और सिक्खों, राजपूतों तथा मरहठों की वीरता एवं आत्मविश्वास की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

शान्तिनिकेतन की स्थापना

इस समय उनका सबसे बड़ा स्मृति-चिह्न शान्ति-निकेतन है। इस विश्वविख्यात विद्यालय की स्थापना सन् १६०१ में हुई। हमारे प्राचीन आदर्शों के पुजारी होने के साथ-साथ

रवीन्द्रनाथ पश्चिम की वर्तमान प्रगति से एकदम उदासीन नहीं थे। शान्तिनिकेतन में पश्चिम की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को कुछ अंशों में ग्रहण भी किया गया। वह चाहते थे कि इस विद्यालय के द्वारा प्राचीन आदर्शों की प्राप्ति की जाय और भारतीय विद्यार्थी के मन और आत्मा का इतना विकास कर दिया जाय कि वह सौन्दर्य, प्रेम और ईश्वर की ओर उन्मुख हो सके। शांतिनिकेतन एक आदर्श संस्था समझी जाने लगी और देश ही नहीं विदेशों से भी विद्यार्थी आकर भरती होने लगे। इसी प्रकार विदेशों से अध्यापक भी शान्तिनिकेतन में आकर काम करने लगे। इनमें दीनबन्धु एंड्रूज और पीयर्सन काफी प्रसिद्ध अध्यापकों में से थे।

मृत्यु का मर्म

कविवर का गार्हस्थ्य जीवन इस समय काफी सुखी था। शिक्षा-व्रती कवि जिस समय अपने आदर्श शिक्षालय के संगठन में प्रवृत थे उस समय उनकी धर्मपत्नी उनके इस कार्य में बराबर सहयोग देती थीं। अपने हाथ से छात्रों के लिए जलपान तैयार करने का भार उन्होंने लिया था। छात्रों को अपने स्नेह से उन्होंने गढ़ना चाहा था। विद्यालय को आरम्भ हुए अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ था कि कवि-पत्नी का देहान्त हो गया। कवि-संसार को भंग करके वह अकाल में ही चल बसीं। मृत्यु-शय्या पर कवि ने अपनी पत्नी की जैसी सेवा-शुश्रुषा की उसकी छाप आज भी परिवार के लोगों पर ज्यों-की-त्यों अंकित है। पत्नी के असामयिक निधन से कवि को मर्मान्तक पीड़ा हुई।

कवि के जीवन का अब बड़ा ही दुःखमय अध्याय प्रारम्भ होता है। सन् १६०२ के नवम्बर मास में पत्नी का देहान्त तो

हो ही गया था, दो वर्ष बाद ही उनकी दूसरी कन्या की भी मृत्यु हो गई। इसके बाद १६०५ में उनके वृद्ध पिता भी चल बसे। नियति का निर्दय प्रहार यहीं तक सीमित नहीं रहा। एक ही वर्ष बाद उनके बड़े पुत्र की भी मृत्यु हो गई। अपने इस पुत्र को वह बहुत प्यार करते थे। मृत्यु के निरंतर प्रहारों के कारण कवि की आत्मा करुण-क्रन्दन कर उठी। 'स्मरण' 'खेवैया' और 'नौका डूबी' नामक रचनाएं इसी काल की हैं। इन रचनाओं में कवि के बड़े ही मार्मिक उद्गार हैं। इस शोक के बीच ही कवि को एक दूसरा दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ। तब निश्चित रूप से उन्होंने यह जान लिया कि मृत्यु अन्त नहीं जीवन की पूर्णता है।

पश्चिम-प्रवास

इसके बाद से कवि ने पश्चिम में जाना प्रारम्भ किया। सबसे पहले वह बीमारी की अवस्था में इङ्गलैंड गये और वहां उनका एक बड़ा आपरेशन हुआ जोकि बिल्कुल सफल रहा। यही वह समय था जब कि उनकी 'गीतांजलि' नामक बंगला कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। अनुवाद स्वयं कवि ने किया था। इस छोटी-सी सुन्दर काव्य-पुस्तक ने उन्हें विश्व-विख्यात कर दिया। उन्होंने अमेरिका की यात्रा की और विश्व-विख्यात होकर १६१३ में भारत लौटे। भारत आने के कुछ ही सप्ताह बाद विश्व-साहित्य का सुप्रसिद्ध नोबल पुरस्कार उन्हें मिला। सिर्फ एक ही कवि की साधना से भारतवर्ष की एक प्रान्तीय भाषा विश्व-साहित्य की भाषा बन गई। प्रतिकूल वातावरण एवं साधन-हीनता के होते हुए भी अपने चारों ओर के असहयोग को लांघ जाने और उन्हें बदल देने में ही रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की सिद्धि है। *रवीन्द्रनाथ* ने

अपनी वीणा के स्वरों से निराश और विक्षुब्ध जाति में नव-जीवन का संचार किया। साम्प्रदायिकता के स्थान पर राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित किया। उन्हींके प्रयत्न से नवजाग्रत बंगाली मानस स्वाधीनता के स्वप्न से व्याकुल और चंचल हो उठा। स्वधर्म-प्रतिष्ठा की साधना में रवीन्द्रनाथ कवि ही नहीं पथ-प्रदर्शक भी हैं।

इन्हीं वर्षों में जब कि सारे विश्व में उनकी कीर्ति-कौमुदी फैल चुकी थी, कवि की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशित हुईं। उन्हें 'नाइट' की उपाधि प्रदान की गई तथा अन्य कई प्रकार से देश में उनका सम्मान हुआ।

विश्वभारती का जन्म

उन्होंने राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के आदर्शों को मूर्तरूप देने के लिए 'विश्व-भारती' नामक एक विश्व-संस्कृति की संस्था की स्थापना की और ग्राम-सुधार के लिए श्रीनिकेतन की स्थापना की, जो कि ग्रामों के पुनर्निर्माण के लिए विश्व-भारती का एक विभाग है। सन् १९२० और ३० के बीच में उन्होंने बड़ी यात्राएं कीं। किन्तु उनका ध्यान सदैव विश्व-भारती की उन्नति में लगा रहा। नोबल पुरस्कार से और पुस्तकों से जो कुछ उन्हें मिला वह सब वह उसके लिए खर्च करते रहे। शनैः-शनैः वह एक विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया और उसका नाम सचमुच ही विश्व-भारती हो गया जो कि संसारभर की संस्कृति का बोधक है। संसार के विभिन्न देशों के विद्यार्थी यहां कार्य एवं संस्कृति के बन्धुत्व में परस्पर मिल-जुल कर रहते हैं। यूरोप और एशिया के कतिपय बड़े-बड़े विद्वान भी यहाँ आते हैं और यहाँ रहकर भारतीय कला, संगीत और संस्कृति का अध्ययन करते

हैं। कवीन्द्र यहाँ साधारत: एक अध्यापक और संस्थापक सभापति के रूप में रहते थे। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति ही नहीं, अपना सारा जीवन इसे अर्पण कर दिया।

पशुता का विरोध

साहित्य, कला और संस्कृति के लिए जहाँ कवि ने इतना किया वहां समय-समय पर स्वदेश-प्रेम भी प्रदर्शित किया। बंग-भंग के समय उन्होंने बहुत काम किया। जलियाँवाला बाग के हत्या-काण्ड से तो वह इतने दुःखी हुए कि उन्होंने अपनी 'सर' की उपाधि का परित्याग कर दिया। उनके अंग्रेजी मित्र इससे असंतुष्ट होकर अलग हो गये; किन्तु उन्होंने इनकी बिल्कुल चिन्ता नहीं की। राजनीति में गांधीजी से कुछ मतभेद होते हुए भी वह उनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। यही हाल गांधीजी का भी था। जब बंगाल में गांधी-विरोधी आन्दोलन आरम्भ हुआ तो उस समय उन्होंने उसका कड़ा विरोध किया।

उन्होंने वर्तमान अंग्रेजी शासन की उस नीति की सदैव निन्दा की है जिसके द्वारा भारतवासियों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और करोड़ों व्यक्तियों को दरिद्रता और दीनता का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। वह साम्राज्यवाद के बड़े विरोधी थे किन्तु उन्होंने साम्राज्यवाद का मुकाबला करने एवं स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए कभी हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करने की राय नहीं दी। सभ्यता तथा सांस्कृतिक उत्थान के लिये उन्होंने सदैव अंग्रेजों के साथ सहयोग करने की राय दी। वृद्धावस्था के कारण अन्तिम दिनों में उनका स्वास्थ्य कुछ खराब रहने लगा था किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास नहीं हुआ। *समय-समय पर जब आवश्यकता हुई तब उन्होंने बर्बरता, पशुता, जुल्म और हत्याओं*

के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की और करारे जवाब दिये।

देन और प्रस्थान

कवीन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह केवल कवि, उपन्यास-कार, नाटककार एवं कहानी लेखक ही नहीं थे, किन्तु एक बड़े संगीतज्ञ, चित्रकार, तत्त्वज्ञानी, पत्रकार, अध्यापक, वक्ता एवं अभिनय की कला में प्रवीण थे। संस्कृत के काव्यों एवं मध्य-काल के वैष्णव साहित्य से उन्हें बहुत प्रेरणा मिली थी। उपर्युक्त विषयों पर उनका असाधारण अधिकार था। *ज्ञान की तो वह मानो सजीव मूर्ति थे। अपनी असाधारण प्रतिभा और भावोद्वेग से उन्होंने विश्व-मानव की वन्दना की। देश और जाति के संकीर्ण बन्धनों को त्यागकर समस्त मानवता को अपने हृदय में धारण किया। पीड़ित मानव की वेदना को भाषा प्रदान की, उसकी आशा को उन्होंने छन्दों में रूपान्तरित किया और उसके आनन्द को संगीत की सैकड़ों धाराओं में बहाया।* मानव-महत्त्व के इस पुजारी ने देश-विदेशों में भ्रमण करके मानवता को दानवी-शक्ति से छुटकारा दिलाने की अमर वाणी सुनाई। नगर छोड़-कर देहात की एकान्त गोद में साधना करते हुए दीर्घ-जीवन व्यतीत करके, ८ अगस्त, १९४१ को गुरु पूर्णिमा के दिन अस्सी वर्ष की अवस्था में अपने जोड़ासांकों के राजभवन में शिष्य-प्रशिष्यों के बीच शरीर-त्याग किया। उन्हें खोकर विश्व-मानव दरिद्र हो गया।

श्री किशोरलाल मशरूवाला के शब्दों में—*"व्यास, वाल्मीकि वसिष्ठ, विश्वामित्र, पराशर आदि वैदिक ऋषि सब कालों में वर्त-मान पुरुष हो गये। अगर लिखित इतिहास का लोप हो जाय तो श्री रवीन्द्र की भी गणना उन्हींके समकालीनों में होगी।"*

गाँधीजी कहते हैं—*"गुरुदेव हिन्दुस्तान की सेवा के मार्फत सारे*

जगत की सेवा करना चाहते थे और सेवा करते-करते चले गये। उनकी आत्मा तो अमर है जैसे हम सबकी है। उनकी प्रवृत्तियां व्यापक थीं और प्रायः सभी ऐसी पारमार्थिक थीं कि उनकी मार्फत वह अमर रहेंगे। शांतिनिकेतन, श्रीनिकेतन, विश्व-भारती—ये सब एक ही कृति के नाम हैं। वे गुरुदेव का प्राण थीं। उन्हींके लिये दीनबन्धु गये व बाद में गुरुदेव।"

: ६ :

इस्लाम का विश्वकवि

[सर मुहम्मद इकबाल]

जन्म और प्रारम्भिक शिक्षा

कभी-कभी ऐसी विभूतियों का जन्म होता है जो केवल अपने देश या समय में ही कीर्ति प्राप्त नहीं करते किन्तु उनकी कीर्ति-पताका देश और काल की सीमाओं को पारकर सब काल और सब देशों में फहराने लगती है। इन्हीं विभूतियों में सर इकबाल का नाम भी उल्लेखनीय है! २० वीं शताब्दी के आरम्भिक काल में अपनी प्रतिभा से उन्होंने पूर्व-पश्चिम दोनों को ही जगमगा दिया था। उनका जन्म सन् १८७३ ई० में स्यालकोट (पंजाब) में हुआ था। सर इकबाल के पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे। सम्भवतः मुगलकाल से कई पीढ़ियों पहले उन्होंने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। अतः सर इकबाल के व्यक्तित्व में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के शुभ गुणों का मेल हो गया था। सर इकबाल की प्रारम्भिक शिक्षा स्यालकोट में ही हुई। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके वह

बी० ए० का अध्ययन करने के लिए लाहौर गए। वहां आपने एम० ए० पास किया। यहां आपको दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर आर्नल्ड साहब के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रोफेसर साहब यह देखकर बहुत प्रसन्न हुए कि सर इकबाल दर्शन में विशेष रुचि रखते हैं। वह उनसे स्नेह रखने लगे और उनका यह स्नेह-सम्बन्ध जीवन-पर्यन्त रहा।

कार्य-क्षेत्र में

एम० ए० पास कर लेने पर लाहौर के ओरियण्टल कालेज में वह 'रीडर' बना दिये गये। कुछ समय के बाद वह गवर्नमेंट कालेज में ही लेक्चरार हो गये। यहां भी उन्होंने अच्छी तरह काम किया। १६०५ ई० में जब उनका इंगलैंड जाकर कानून और दर्शनशास्त्र के अध्ययन का विचार निश्चित हुआ तो उन्होंने गवर्नमेंट कालेज की नौकरी छोड़ दी। इंग्लैंड जाकर अध्ययन आरम्भ किया। प्रोफेसर आर्नल्ड इस समय यहीं पर थे। उन्होंने सर इकबाल को राय दी कि वह फारसी रहस्यवाद पर रिसर्च (खोज) सम्बन्धी कार्य करें। उनकी सूचनानुसार सर इकबाल ने इस दिशा में बड़ी लगन से कार्य किया। इधर कानून या अध्ययन चल रहा था, उधर फारसी रहस्यवाद पर अनुसंधान कार्य भी हो रहा था। बैरिस्टरी पास करके वह जर्मनी गये। यहां म्यूनिक विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें 'डाक्टर आफ फिलासफी' की उपाधि प्रदान की गई। तीन वर्षों के बाद वह भारतवर्ष लौटे। यहां वह वकालत करने लगे। कालेज की ओर से उन्हें दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर का स्थान दिया गया; किन्तु मित्रों के आग्रह से उन्होंने वकालत करना ही ठीक समझा। वह वकालत करने तो लगे, किन्तु साहित्य और दर्शन में विशेष रुचि होने के कारण एक सफल

बैरिस्टर नहीं हो सके।

साहित्यिक जीवन

अंगरेजी में एक कहावत है। "Poets are born, not made." अर्थात् कवि पैदा होते हैं, बनाए नहीं जाते। डाक्टर इकबाल के सम्बन्ध में यह उक्ति पूरी तरह चरितार्थ होती है। छोटी उम्र से ही उन्हें कविता लिखने का शौक था। लाहौर के एक मुशायरे (कवि सम्मेलन) में जब उन्होंने पहले-पहल अपनी कविता पढ़ी तो श्रोता-लोग दंग रह गये और वाह-वाह की झड़ी लग गई। सन १८६६ में अंजुमने-इस्लाम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर मित्रों के आग्रह से आपने जो कविता पढ़ी वह इतनी प्रभावशाली थी कि उपस्थित जनता ने उसे कई बार पढ़ने का आग्रह किया। इतना ही नहीं, उनके प्रभाव से यतीमखानों के लिये चन्दा किया जाने लगा। इस कविता ने उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैला दी। कहा जाता है कि लाहौर आने के पूर्व ही स्यालकोट में उन्होंने जो ग़ज़लें लिखी थीं उन्हें उस समय के प्रसिद्ध कवि दाग़ के पास उन्होंने संशोधन के लिये भेजीं। दाग़ निजाम दरबार के सम्मानित और आश्रित कवि थे। वे उस समय दिल्ली में थे। जब दाग़ ने डाक्टर इकबाल की कविताएं देखीं तो वह उनसे बड़े प्रभावित हुए और यह लिख कर वापिस करदीं कि इनमें संशोधन के योग्य कोई भूल नहीं है। उनकी 'तस्वीरे दर्द', 'शिकवा' और 'जवाबे शिकवा' इतनी सुन्दर रचनाएं थीं कि कवि-सम्मेलनों में उनके पढ़ते ही डाक्टर इकबाल की कीर्ति चारों ओर फैल गई। वह उर्दू के उदीयमान कवि माने जाने लगे। सन् १६०६ में 'मखजन' नामक एक उर्दू मासिक पत्र लाहौर से प्रकाशित होने लगा। पत्र के सम्पादक थे सर अब्दुल कादिर। पत्र

बड़ी शानो-शौकत से प्रकाशित हुआ था। डाक्टर इकबाल की 'हिमाला' नाम की रचना पहली बार इसी पत्र में प्रकाशित हुई। यह कविता सबने बहुत पसंद की। इसके बाद तो उर्दू के अन्य अच्छे-अच्छे पत्रों में उनकी कविताएं प्रकाशित होने लगीं।

रचनाएं और ख्याति

डाक्टर इकबाल की कविताओं को तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सन् १६०५ के पूर्व की रचनाएं (२) इंग्लैंड में लिखी हुई रचनाएं और (३) बाद की रचनाएं। इस अन्तिम काल में डाक्टर इकबाल को सहसा ऐसा अनुभव होने लगा कि उन्हें अपने विचार फारसी द्वारा भी व्यक्त करने चाहिएं। अतः उन्होंने फारसी में भी लिखना आरम्भ कर दिया। इससे उन्हें यह अनुभव हुआ कि दार्शनिक भावों की अभिव्यकित उर्दू की अपेक्षा फारसी द्वारा अधिक अच्छी तरह की जा सकती है। फारसी में सबसे पहले 'असरारे खुदी' नामक उनका कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ। इस कविता-संग्रह ने उनकी कीर्ति भारत और इंग्लैंड में ही नहीं टर्की, अफगानिस्तान और ईरान में भी फैला दी। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद प्रोफेसर निकलसन द्वारा सन १६२० में प्रकाशित हुआ। इस अंग्रेजी अनुवाद से अमेरिका में भी उनकी कीर्ति फैल गई। इसके बाद तो उनके और भी दो तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए। ये कविता-संग्रह दार्शनिक भावों से भरे हुए थे। इधर उर्दू वाले यह देख कर कि डाक्टर इकबाल ने उर्दू में लिखना छोड़ दिया है, यह माँग करने लगे कि वह उर्दू को इस प्रकार एकदम छोड़ न दें। उनकी मांग पर डाक्टर इकबाल ने इस ओर फिर ध्यान दिया और उनके दो कविता-संग्रह उर्दू में प्रकाशित हुए। ये उर्दू की कविताएं भी दार्शनिक भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इन

कविताओं में कल्पना-जगत् की सैर की अपेक्षा दर्शन को जीवन में उतारने का संदेश अधिक है। आपके मद्रास में दिये भाषणों का एक संग्रह भी जिसका नाम 'इस्लाम में विचारों का पुनर्निर्माण है, उल्लेखनीय है। पश्चिम के और इस्लाम के दार्शनिक विचारों का इसमें बड़ा ही सुन्दर मेल है।

गुरुदेव और डाक्टर इकबाल

भारतीय उर्दू कवियों में डाक्टर इकबाल ही सबसे अधिक लोक-प्रिय हुए। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने वाले दो ही भारतीय कवि हैं। श्री रवीन्द्र ठाकुर और डाक्टर इकबाल। दोनों की कविताओं में बहुत बातों में समानता और बहुत बातों में विभिन्नता है। *दोनों ही स्वदेश-प्रेमी और विश्व-बन्धुत्व तथा मानवता के उपासक थे। दोनों ही विश्व के उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न देखने वाले थे।* रवीन्द्रनाथ यद्यपि अपनी इन विशेषताओं में डाक्टर इकबाल से कुछ कदम आगे अवश्य थे, किन्तु डाक्टर इकबाल का महत्त्व इससे कम नहीं होता। ध्येय में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी उनके मार्ग भिन्न-भिन्न थे। रवीन्द्रनाथ का मार्ग शांति का था तो डाक्टर इकबाल का मार्ग संघर्ष का। दोनों ही रहस्यवादी कवि थे, किंतु दोनों के रहस्यवादी विचारों की धारा भिन्न-भिन्न थी।

युगान्तरकारी कवि

डाक्टर इकबाल की आरंभिक रचनाएं स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीयता से भरपूर रहती थीं। उनका 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' नामक राष्ट्रीय गीत और 'नया शिवाला' आदि रचनाएं इसके बड़े ही सुन्दर नमूने हैं। किंतु जैसे-जैसे समय बीतता गया उनकी यह राष्ट्रीयता कम होती गई। पश्चिम के इस्लाम धर्मावलम्बी देशों और इस्लाम धर्म के प्रति उनका प्रेम

बढ़ता गया और राष्ट्रीय विचारों का लगभग लोप-सा हो गया। डाक्टर इकबाल प्रधानतः इस्लाम के कवि थे। उनकी कविताओं में जो इस्लामी वातावरण और धर्म के सिद्धान्तों पर विश्वास मिलता है वह उनके इस्लामी साहित्य के अध्ययन और उन सिद्धान्तों में पूर्णतः विश्वास रखने के कारण था। यदि इस दृष्टि से देखें तो यह कहा जा सकता है कि वह इस्लाम के ही नहीं, भारत के, पूर्व के और मानवता के कवि थे।

डाक्टर इकबाल युगांतरकारी कवि थे। उन्होंने उर्दू-कविता में युगांतर उपस्थित कर दिया। उनकी शैली, अभिव्यक्ति की प्रणाली तथा दार्शनिकता का उनके समकालीन कवियों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और इन बातों में वे तथा नई पीढ़ी के कवि उनका अनुकरण करने लगे। इसी प्रकार उनके विचारों का भी प्रभाव उर्दू पर पड़ा। कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों को पढ़कर इकबाल उनसे प्रभावित हुए थे। उनकी कुछ रचनाओं में मजदूरों के दुर्भाग्य से सहानुभूति एवं पूंजीवादियों का विरोध प्रकट हुआ है। उनके इन विचारों ने भी तत्कालीन साहित्यिकों पर गहरा प्रभाव डाला और इस तरह की कविताएं उर्दू में लिखी जाने लगीं। आज तो इस प्रकार की कविताओं की जैसे बाढ़ आ गई है। उर्दू के मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों में इस प्रकार की कई कविताएं प्रतिदिन प्रकाशित होती रहती हैं। आजकल इस प्रकार की कविताओं का केवल राजनीतिक महत्त्व ही नहीं साहित्यिक महत्त्व भी हो गया है; क्योंकि ये राजनीतिक सभाओं में ही नहीं साहित्यिक गोष्ठियों में भी उतने ही आदर से पढ़ी जाती हैं और पसन्द की जाती हैं। इस विचारधारा के लिए उनके प्रवर्त्तक डाक्टर इकबाल का ऋण उर्दू साहित्य पर है। *वह केवल पूंजीवाद के ही विरोधी नहीं थे, उन्होने साम्राज्यवाद का भी विरोध किया है। और कहीं-*

कहीं तो आगे बढ़कर उन्होंने प्रजातंत्र का भी विरोध किया है। उनका कहना था कि प्रजातंत्र में सिर या हाथ गिने जाते हैं अर्थात् संख्या से—बहुमत से—निर्णय होता है, किंतु कौन-से विचार भारी हैं—अधिक हितकर है, यह नहीं देखा जाता। महत्त्व उच्च और अच्छे विचारों का होना चाहिए, केवल मनुष्यों की बड़ी सख्या का नहीं।

राजनीति और शिक्षा के क्षेत्र में

डाक्टर इकबाल पहले साहित्यिक थे, बाद में और कुछ। उन्होंने राजनीति में भी भाग लिया, किन्तु वह उनका प्रिय क्षेत्र नहीं था। वह एक बार लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेंबर चुने गए थे। मुस्लिम-लीग के सभापति भी वह रहे और सन् १९३१ की दूसरी राउण्डटेबुल कांफ्रेंस में भी वह सम्मिलित हुए थे। उनका दूसरा क्षेत्र था शिक्षा। पंजाब-विश्वविद्यालय के महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करके अपने परामर्श और कार्यों द्वारा उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में उसे उन्नत बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। अफगानिस्तान के अमीर नादिरखां ने अपने यहां शिक्षा-सम्बन्धी सुधार के लिए जिन तीन व्यक्तियों को निमंत्रित किया था उनमें डाक्टर इकबाल भी एक थे। दुर्भाग्य से उनके आने के बाद ही नादिरखां मार डाले गए और वह योजना जो इन लोगों के द्वारा बनाई गई थी कार्यरूप में परिणत नहीं की जा सकी।

डाक्टर इकबाल ने अपनी ओर से राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। किन्तु उन्हें 'नाइट' की उपाधि किस प्रकार मिली, इसकी एक बड़ी ही मनोरंजक घटना है। घटना उस समय की है जब कि वह धारासभा के मेम्बर नहीं चुने गए थे और राउण्ड-टेबुल-कांफ्रेंस में सम्मिलित होने इंग्लैंड

भी नहीं गए थे। कहा जाता है कि पंजाब के गवर्नर के यहां एक अंग्रेज़ मेहमान आये। उन्होंने अपनी यह इच्छा प्रकट की कि वह डाक्टर इकबाल से मिलना चाहते हैं। गवर्नर ने उनसे पूछा कि आपको डाक्टर इकबाल का परिचय कैसे हुआ। उन्होंने बताया कि जब वह ईरान और रूस के कुछ भागों की यात्रा कर रहे थे तो उन्होंने लोगों को डाक्टर इकबाल की रचनाएं बड़ी ही रुचि से पढ़ते देखा। उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि पंजाब के गवर्नर को इतने प्रसिद्ध व्यक्ति के संबंध में जो कि उनके ही प्रांत का निवासी है, कुछ भी मालूम नहीं है। गवर्नर ने डाक्टर इकबाल को अपने यहां बुलाया और बड़ी रुचि से वे सारी बातें सुनीं जो डाक्टर इकबाल और उनके मेहमान के बीच हुई थीं। गवर्नर डाक्टर इकबाल को जानता तो था किन्तु उनकी बाहर कितनी ख्याति है और वह कितने विद्वान् हैं, यह उसे नहीं मालूम था। वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने उन्हें 'नाइट' की उपाधि दिलवाई।

डाक्टर इकबाल के अंतिम दिन दुःख से बीते। उनकी पत्नी का स्वास्थ्य एक लम्बे समय से ठीक नहीं था। वह इन्हीं दिनों चल बसीं। डाक्टर इकबाल का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता था, अतएव साहित्यिक कार्यों को चालू रखने में कठिनाई और बाधा आने लगी। अंत में २१ अप्रैल, सन् १६३८ ई० में थोड़ी-सी बीमारी के बाद दर्शन व काव्य क्षेत्र का यह महापुरुष अचानक इस संसार से विदा हो गया। लाहौर में शाही मस्जिद के पास ही उनको दफ़नाया गया। सारे देश में और विदेशों में भी उनकी मृत्यु से शोक छा गया। स्थान-स्थान पर शोकसभाएं हुईं और शोक-प्रस्ताव पास हुए। डाक्टर इकबाल यद्यपि आज हमारे बीच में नहीं हैं, उन्होंने अपने भौतिक

शरीर को त्याग दिया है, किन्तु अपनी कृतियों और यश-शरीर से वह आज तक जीवित हैं और सदा रहेंगे।

: ७ :

बलिदान की देवी

[जोन आफ आर्क]

फ्रांस की पराधीनता

१५ वीं सदी का आरंभिक काल फ्रांस के इतिहास में बड़ा भयंकर रहा है। यह वह समय था जबकि फ्रांस की शस्य-श्यामला भूमि विदेशियों के पैरों तले रौंदी जा रही थी। उसके भाग्याकाश में काले-काले बादल मंडरा रहे थे और चारों ओर अंधकार था। मानो सर्वनाश की तैयारी हो रही है। स्वाधीनता का सूर्य अस्ताचल की ओर शीघ्रता से बढ़ रहा था। फ्रांस की जनता हमारी तरह सदियों से गुलाम नहीं थी। अपनी स्वाधीनता का अपहरण होते देख उसने रणदेवी को रक्तांजलि अर्पण करने में कोई कमी नहीं की, किंतु समय के फेर के कारण दिन-प्रतिदिन हालत बिगड़ती ही गई। दुर्भाग्य से देश-द्रोहियों की संख्या भी बढ़ने लगी। अंत में थककर फ्रांस ने विदेशियों के सामने सिर झुका दिया। फ्रांस का अधिपति चार्ल्स अपना सिर छिपाने के लिए देश के अज्ञात स्थानों में भटकता रहा। फ्रांसीसियों के लिए यह पीड़ा असह्य हो रही थी। फ्रांसीसी माता ने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि उसीकी कोख से उत्पन्न होने वाला पुत्र उसीको पैरों तले कुचल डालने के लिए तैयार हो जायगा और वही शिक्षा अपनी संतति को

दे जायगा। परन्तु जो नहीं सोचा था वही हुआ। फ्रास का एक 'जमींदार' इंग्लैंड का राजा बन बैठा। अब उसे फ्रांस का जमींदार बना रहना अपनी शान के खिलाफ लगा। फ्रांस के राजा के सामने जमींदार की भांति घुटने टेकना उसके लिए कठिन हो गया। उसने राज-निष्ठा और राज-भक्ति को तिलांजलि देकर बलपूर्वक फ्रांस का राजा बन बैठने के लिए हाथ पैर मारना आरम्भ किया। फ्रांस के उत्तर-पश्चिम प्रदेश में केले से लेकर बोर्दो तक तथा पेरिस और रायन नगर में अंग्रेजों की विजयपताका फहराने लगी। पंचम हेनरी उस समय इंग्लएड के राज-सिंहासन पर आसीन था। उद्धत अंग्रेज सिपाही जहाँ-तहाँ उपद्रव करने लगे तथा भयभीत और त्रस्त होकर लोग जंगलों में छिपने लगे।

बचपन

इस पराधीनता की यंत्रणा के काल में देवी जोन का जन्म लारेन प्रांत के डुमरिम गाँव में हुआ। उसके पिता का नाम था जोवेयस आर्क। वह एक साधारण कृषक था। जोन की मां इसाबेला बड़ी धर्मपरायणा और कर्तव्यनिष्ठ स्त्री थी। जोन के तीन भाई और एक बहिन थी। जोन सबसे छोटी थी। उसके माता-पिता का जीवन बड़ा ही सरल और पवित्र था। उनके पुण्य संसर्ग में रहकर जोन ने शैशव अवस्था से ही भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण करना सीख लिया था। वह कभी अपने पिता के साथ खेत पर जाती, कभी भोजन बनाने में अपनी माता की सहायता करती। माता के मुख से बाइबिल का उपदेश और प्राचीन वीर पुरुषों के आत्मोत्सर्ग की आश्चर्यजनक कहानियाँ सुन-सुन कर उसके हृदय में स्वार्थ-त्याग का आदर्श उत्पन्न हो गया था। जैसे-जैसे वह बड़ी होने

लगी, विदेशियों के उद्धत अत्याचार से पीड़ित देशवासियों को देखकर उसके करुण-हृदय में व्याकुलता का संचार होने लगा। एकबार उसके डुमरिम गाँव पर भी उच्छृंखल सैनिकों ने आक्रमण किया। आत्म-रक्षा के लिए ग्रामीणों ने जंगल का आश्रय लिया और जब वे चले गये तो लोग वापिस लौट आये। उन्होंने देखा कि गिरजाघर और ग्राम के अधिकांश मकान जलाकर नष्ट कर दिए गए हैं। *जोन स्वभाव से ही दयावती और कोमलहृदया थी।* इस दृश्य से उसके हृदय पर बड़ी चोट पहुँची। वह बड़ी ही सेवापरायण और ईश्वर-भक्त थी। भगवान् में उसकी अटल भक्ति और स्वधर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा थी। पाश्चात्य देशों में ऐसी श्रद्धा साधारणतः कम देखने में आती है। गांव में कोई पाठशाला न होने से वह पढ़ नहीं सकी किन्तु आदर्श जीवन के लिए जिस सच्चरित्रता की आवश्यकता होती है उसे वह बचपन से ही प्राप्त कर रही थी। वह एकांत-प्रिय थी। घर के पास ही मैदान में बैठकर वह विशाल नीलाम्बर, अभ्रभेदी पर्वतमाला तथा वन-भूमि के प्राकृतिक दृश्य देखकर बहुत ही आनन्द अनुभव करती थी। उसके माता-पिता की इच्छा थी कि वह विवाह करके सुखी जीवन व्यतीत करे। उसके रूप-लावण्य और पवित्र जीवन ने ग्रामवासी युवकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। अनेक युवकों ने विवाह के प्रस्ताव किये, किन्तु उसने सब अस्वीकृत कर दिये। उसने 'वर्जिन मेरी' का-सा आदर्श कौमार-व्रत पालन करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु इससे उसको बड़ी अशान्ति का सामना करना पड़ा। एक युवक ने 'टौल' के धर्म-विचारालय में उसके विरुद्ध यह अभियोग चलाया कि उसने युवक के साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा की थी, किंतु अब वह उसका पालन करना नहीं चाहती। लोग यह सुनकर अवाक् रह गए। वह कहने लगे कि जोन बड़ी

शान्तिप्रिय, सुशीला और कोमल-हृदया है, वह इसका प्रतिवाद न कर सकेगी और उसे विवश होकर इस कपट-जाल में फंस जाना पड़ेगा। किंतु उनका यह विचार गलत निकला। उसने विचारालय में उपस्थित होकर दृढ़ता से कहा —"मेरे विरुद्ध जो अभियोग चलाया गया है वह बिलकुल झूठ और बनावटी है। मैंने कभी किसीके साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा नहीं की।" विचारकों ने उसकी सरलता से प्रभावित होकर उस पर विश्वास कर लिया और उसे बरी कर दिया। अब उसका संकल्प और दृढ़ हो गया और अपने पतित देशवासियों के उद्धार की इच्छा अधिक प्रबल हो गई।

दिव्य आलोक

फ्रांस की तत्कालीन राजनैतिक अवस्था का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहास लेखक लामर्टाईन ने तत्कालीन अवस्था का वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा है—"राजा ने देखा कि जनसाधारण में अपनी प्रजा कहने के लिये कोई नहीं, जनता ने देखा कि स्वेच्छाचारी-शासन के बाहुल्य से राजा कहने के लिये कोई नहीं और फ्रांसवासियों ने देखा कि फ्रांस में अपना स्वदेश कहने के लिये कुछ भी नहीं।" स्वदेश की यह अवस्था जोन के लिये असह्य हो उठी। किस प्रकार स्वदेश मुक्त हो यही विचार उसे व्याकुल करने लगे। अपने देश के उद्धार के लिये एकांत बैठकर वह घंटों प्रार्थना किया करती। एक दिन ग्रीष्मकाल की संध्या के समय उसे गिरजाघर के सामने मैदान में एक आलोक दिखाई दिया और क्षण भर बाद यह आवाज़ सुनाई पड़ी—"जोन, तू पवित्र चरित्र रह और भगवान् पर भरोसा कर।" उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। एक बार फिर उसे वही वाणी सुनाई पड़ी। उस समय वह १५ वर्ष की होगी।

इस घटना के बाद फिर दो स्वर्गीय दूत दिव्य भूषणों से भूषित होकर उसको साक्षात दिखाई दिये। उन्होंने कहा—"जोन, डेफिन की सहायता के लिए युद्ध में प्रवृत्त हो और पतित स्वदेश का उद्धार कर।" "मैं अबला हूँ। किस प्रकार युद्ध किया जाता है, यह मुझे नहीं मालूम।" दूत ने उत्तर दिया—"केथेरिन और मार्गरेट स्वयं तुझे सहायता देंगी।" जोन ने ये बातें बड़े ध्यान से सुनीं। कहते हैं कि इसके बाद भी कई बार उसे स्वर्गीय दूत के दर्शन हुए थे। दूतों के अंतर्धान होते ही वह चिल्ला उठी—"मुझे भी अपने साथ लेते चलो।"

धीरे-धीरे यह बात उसके माता-पिता के कानों तक पहुंची। श्रद्धालु माता ने तो उसपर विश्वास कर लिया किन्तु पिता ने नहीं किया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"यदि मैं तेरे मुंह से ऐसी बातें फिर सुनूंगा तो तुझे मार डालूंगा।" इस प्रतिकूल बात को सुनकर वह चिंतित होगई। वह बड़े धर्म-संकट में पड़ गई। *अंत में वह इस निष्कर्ष पर पहुंची कि पिता की आज्ञा पालन की अपेक्षा स्वदेश-रक्षा अधिक आवश्यक है।* उसने प्रकट रूप से पिता की आज्ञा की उपेक्षा नहीं की और बड़ी कुशलता से घर छोड़ने का विचार किया। जब उसने अपनी चाची की बीमारी का हाल सुना तो उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए पिता की आज्ञा लेकर अपने चाचा के घर चली गई। उसके चाचा बड़े ही उदार हृदय थे। उसकी बात सुनकर मुग्ध होगए और उसकी सहायता करना स्वीकार कर लिया। वृद्ध चाचा का आश्रय पाकर उसका उत्साह दुगुना हो गया। जोन ने अपने चाचा से व्रेकुलियर्स के शासनकर्ता बोड्रीकोर्ट के पास जाकर उसे यह शुभ-संकल्प सुनाने का अनुरोध किया। चाचा ने स्वीकार कर लिया। उस हाकिम ने सारी बात सुनकर कहा कि "अपनी भतीजी को समझा-बुझाकर उसके पिता के पास पहुँचा दो।" लेक्जर्ट (जोन का चाचा)

निराश होकर लौट आया। जोन यह सुनकर चिंतित हो गई, किंतु थोड़ी ही देर बाद उसने उस हाकिम से स्वयं मिलने का संकल्प किया। चाचा के साथ वह हाकिम के पास गई। हाकिम ने प्रश्न किया—"तुम किसलिए मिलना चाहती थीं?" जोन ने कहा—"भगवान् की इच्छा है कि राजा इस धर्म-युद्ध में पीछे न हटे। शत्रु-पक्ष के प्रबल होने पर भी उसे राज-सिंहासन मिल जायगा। रीम्स नगर के राजा का राज्याभिषेक-उत्सव सम्पन्न करने के लिए ईश्वर ने मुझे आदेश दिया है।"

युद्ध की तैयारी

शासन-कर्त्ता ने एक धर्म-याजक से परामर्श करके सब बातें ड्यूक आफ लौरेन को लिख भेजीं और साथ ही जोन को भी भेज दिया। ड्यूक ने जब उससे बातचीत की तो वह भी मुग्ध हो गया। राजा डफिन ने भी यह बात सुनी तथा लोगों ने इस प्रकार के प्रार्थनापत्र राजा को भेजे। जोन को चीनन नगर बुलाया गया, जहां प्रजा-सभा का अधिवेशन होने वाला था। साढ़े चार सौ मील का रास्ता तय करके वह, दो सप्ताह बाद, चीनन पहुँची। उसकी परीक्षा लेने के लिये राजा वेश बदल कर बैठा था। यद्यपि उसने राजा को पहले कभी नहीं देखा था किंतु पहचान लिया। उसने कहा—"मैं आपको देववाणी सुनाने आई हूँ। ईश्वर का आदेश है कि आप रीम्स नगर की ओर अग्रसर हों, आपको विजय मिलेगी और वहीं आपका राज्याभिषेक होगा।" राजा के दिल में श्रद्धा उत्पन्न होगई। उसने राज्य के बड़े-बड़े शुभचिंतकों से परामर्श किया। सबने जोन से प्रश्न किये और जोन ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिये। कुछ तर्क-वितर्क के बाद सब लोग अनुकूल हो गये और उन्होंने अपनी राय राजा के पास भेज दी।

पार्लमेण्ट का अनुकूल वक्तव्य पाकर राजा ने प्रसन्न होकर एक घोषणा-पत्र प्रचारित किया जिसमें कहा गया कि फ्रांस को दासता से मुक्त करने के लिए कुमारी 'जोन आफ आर्क' को ईश्वरीय संदेश मिला है। परीक्षा लेने पर वह पुनीत चरित्र और ईश्वरनिष्ठ सिद्ध हुई है। राजा उसको युद्ध में भेजना चाहते हैं, क्योंकि उसके द्वारा राज्य का बहुत कुछ कल्याण होने की आशा है। जन-साधारण को इस घोषणा से बड़ी प्रसन्नता हुई। कई समरतत्ववेत्ता प्रतिदिन जोन को युद्ध-विद्या देने लगे। थोड़े ही समय में वह समर-नीति में कुशल हो गई। रणवेश में सज्जित होकर वह एक काले घोड़े पर सवार हुई और ब्लोइस नगर की ओर रवाना हुई। वहां सबने उसका स्वागत किया और पराजित राष्ट्र में आशा एवं उत्साह की लहर दौड़ गई।

जोन ने आरलिंस नगर के उद्धार की तैयारी की। आरलिंस नगर अंग्रेजों द्वारा घिरा हुआ था। जोन ने सेना के साथ नगर में प्रवेश किया। अंग्रेजों ने उपेक्षा करके उसे कोई बाधा न पहुँचाई। उसने नगर में प्रवेश करके ईश्वरोपासना की और फिर सारे नगर में भ्रमण किया। वह रक्तपात और नर-हत्या को बुरा समझती थी। उसने अंग्रेजों को एक पत्र लिखकर कहा- "आप लोग फ्रांस को छोड़कर चले जाइए। मैं ईश्वर के आदेश से स्वदेश-रक्षा के पुनीत कार्य में प्रवृत्त हुई हूँ। यदि आप न गये तो आपको इसका परिणाम भोगना पड़ेगा।" अंग्रेज-शिविर में जब यह पत्र पढ़ा गया तो बड़ी उत्तेजना फैल गई। उन्होंने पत्र-वाहक के साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया और उसे जेल में बन्द कर दिया। जोन बड़ी दुःखी हुई। उसने स्वयं दुर्ग के शिखर पर चढ़कर अपना यह प्रस्ताव अंग्रेजों को सुनाया। किन्तु कोई परिणाम न निकला। इस

घटना से युद्ध अनिवार्य हो गया। एक दिन जोन को यह खबर मिली कि अंग्रेजों की एक नई कुमुक आने वाली है। उसने सेनापति डूनियस से कह दिया कि उसके आते ही खबर दी जाय और वह थकी होने के कारण सो गई। डूनियस ने सेन्टलुप किले पर आक्रमण किया। इधर जब जोन जगी तो उसने नौकर से कहा—"अस्त्र-शस्त्र जल्दी लाओ। युद्ध-क्षेत्र में मेरा जाना अनिवार्य है।" इतने में ही नगर के तोरण-द्वार पर कोलाहल सुनाई दिया। वह घोड़े पर सवार होकर उधर की ओर चल दी। उसने देखा अंग्रेज प्रबल पराक्रम से युद्धकर रहे हैं और फ्रांसोसी भागे जा रहे हैं। उसने जागे हुए सैनिकों को एकत्र किया और उत्साहित करके हमला करने के लिए ललकारा। वह स्वंय सेना का परिचालन करने लगी। अंग्रेज पराजित होगए और दुर्ग पर फ्रांसीसी सेना ने अधिकार कर लिया। फ्रांसीसी सेना में बल का संचार हो ही चुका था—दूसरे दिन जब अंग्रेजों के दूसरे दुर्ग पर आक्रमण किया गया तो अंग्रेजों की ओर से प्रबल प्रतिरोध होने पर भी फ्रांसीसी युद्ध-क्षेत्र में डटे रहे। घोर संग्राम हुआ। किले में प्रवेश करने की इच्छा से वह किले की दीवार पर चढ़ गई। इसी समय एक तीर आकर उसकी गरदन में लगा। वह बेहोश होकर किले की खाई में गिर गई। अंग्रेज उसे पकड़ने दौड़े, किंतु फ्रांसीसियों ने उन्हें आगे न बढ़ने दिया। ज़ख्म पर दवा लगाकर उसने ईश्वरोपासना की और फिर युद्ध में जुट पड़ी। डूनियस ने उसे रणक्षेत्र से चले जाने की सलाह दी, किन्तु जोन ने इस *कापुरुषोचित* सलाह को न सुना। उसने दूने उत्साह से अंग्रेज पर हमला किया और उन्हें पराजित कर दिया। अंग्रेजों सेनापति ग्लेस्डेल ज्योंही अपनी सेना के साथ लोयर नदी के पुल से भाग रहा था त्योंही गोला लगने से पुल टूट गया और सेनापति सेना के साथ

नदी में गिरकर मर गया। यह दृश्य देखकर कोमल-हृदया जोन अपने आंसू न रोक सकी। निराश होकर अंग्रेजों ने आरलिंस नगर छोड़ दिया। इस प्रकार जोन ने आरलिंस का उद्धार किया। नगरवासियों ने आनन्द-विभोर होकर जोन को हार्दिक धन्यवाद दिया! किन्तु जोन ने इसे ईश्वर की कृपा का फल ही बताया। सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया गया। लोग बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए और फिर बड़ा जुलूस निकाला गया।

राज्याभिषेक

व्यर्थ समय नष्ट न करके वह दूसरे नगर को गई। सम्राट डफिन इसी नगर में थे। सम्राट ने जोन की अभ्यर्थना की। जोन ने सम्राट से रीम्स नगर में जाकर राजपद पर अभिषिक्त होने के लिए अनुरोध किया, किन्तु उसने उसकी वीरता का प्रमाण पाकर भी अस्वीकार कर दिया। जोन के बहुत अनुनय-विनय करने पर उसका मत बदला। उसने एक सेना जोन की सहायता के लिए दी। जोन ने इस सेना से जार्गो नामक स्थान पर आक्रमण किया। अंग्रेजों ने बड़ी वीरता से सामना किया, किन्तु उन्हें हारना पड़ा। जोन ने आगे बढ़कर वर्गेसी के किले पर भी अपनी विजय-पताका फहरा दी। अब 'पेटे' नामक स्थान पर दोनों दलों में भीषण संघर्ष हुआ। अंग्रेजों के अच्छे सेनापति भाग खड़े हुए और विजयलक्ष्मी फ्रांसीसियों को मिली। पेटे के युद्ध के एक मास बाद ही डफिन के राज्याभिषेक का आयोजन किया गया; किंतु रीम्स उस समय शत्रुओं के अधिकार में था। जोन की वीरता की बात सारे देश में फैल गई थी। अतः रास्ते में जो स्थान पड़ते थे सबने उसका अधिकार मान लिया और १६ जुलाई १४२६ ई० को डफिन

सदल-बल रीम्स नगर पहुँच गया। दूसरे ही दिन रीम्स के प्राचीन धर्म-मंदिर में बड़ी धूम-धाम से उसका राज्याभिषेक हुआ। उसका नाम सप्तम चार्ल्स रक्खा गया।

पराजय में

जोन का यश चारों ओर फैल गया था। राजा और सेना दोनों ही उसपर भक्ति रखने लगे थे। जोन ने जो व्रत लिया था वह राज्याभिषेक के साथ पूरा होगया। उसने अब यह इच्छा प्रकट की कि उसे अपने माता-पिता के साथ अपने गांव में रहने की अनुमति दी जाय, किंतु राजा ने उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। वह जानता था कि जोन की अनुपस्थिति में सेना अनुत्साहित एवं शिथिल हो जायगी। वह पेरिस पर आक्रमण करके वहाँ से भी अंग्रेजों को निकालना चाहता था। जोन के बहुत प्रार्थना करने पर भी उसने इजाजत न दी। अनिच्छा होते हुए भी उसे युद्ध में जाना पड़ा। ८ सितम्बर सन् १४२६ ई० को जोन ने आक्रमण किया। यह इसाइयों का पर्व-दिन था किंतु राजा की आज्ञा होने के कारण अनिच्छा होते हुए भी वह गई। अंग्रेजों ने यहाँ अच्छी तैयारी कर रखी थी। युद्ध हुआ। अधिकांश सैनिक भाग खड़े हुए। जोन ने प्राण दे देना ही उचित समझा, किन्तु फ्रांसीसी सेनापति उसे बलपूर्वक युद्धक्षेत्र से हटा ले गया। इस पराजय से उसे बड़ा दुःख हुआ। वह जाड़े भर वर्गेस नगर में रही। वसंत ऋतु में काम्पियन नगर के उद्धार के लिए उसने युद्ध-यात्रा की। नगर में प्रवेश करके लड़ाई शुरू की। जोन के सैनिक शत्रु के आक्रमण को सहन न कर सके और भाग खड़े हुए। जोन ने भागे हुए सैनिकों को बुलाकर फिर सामना किया, किन्तु सेना फिर भाग खड़ी हुई। उसने फिर सैनिकों को उत्साहित करके आक्रमण किया

किन्तु अब विजय की आशा न देखकर युद्धक्षेत्र छोड़ देने की आज्ञा दे दी। सैनिक भाग गए। जोन भी कई एक शरीर-रक्षकों के साथ युद्धक्षेत्र छोड़ने ही वाली थी कि सहसा शत्रु सेना ने उसे घेर लिया। युद्ध हुआ। एक सैनिक ने उसे घोड़े पर से खींचकर गिरा दिया। वह उठ खड़ी हुई और अस्त्र चलाने लगी। शत्रुदल टूट पड़ा। आत्म-रक्षा संभव न देखकर उसने शत्रुपक्ष को सहायता देने वाले एक देशद्रोही फ्रांसीसी के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया। इस देशद्रोही ने उसे कार्ड लिग्नि के हाथ में सौंप दिया।

बन्दीगृह में

जोन बन्दिनी बना ली गई। जेल में उसे कई प्रकार के कष्ट दिये गए। एक वर्ष तक बन्दीगृह में रखने के बाद उसका विचार प्रारम्भ हुआ। उसके साथ जो कपटपूर्ण दुर्व्यवहार किये गए वे अत्यन्त ही निन्दनीय थे। बन्दी होते ही वह काउण्ट लिग्नि की देख-रेख में रखी गई। उसने अंग्रेजों को खुश करने के लिए लक्सेमबर्ग के राजा को जोन के समर्पण करने का विचार किया। उसकी पत्नी ने उसे इस नीच कार्य से रोकने के लिए बहुत प्रार्थना की, किन्तु उसने न माना और ड्यूक आफ लक्सेमबर्ग के हाथ जोन को समर्पण कर दिया। उस सहृदय अंग्रेज ने जोन के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया। वह जोन को ब्यूरेवर नगर के महल में ले गया। वहाँ महिलाओं ने उसके साथ बड़ा सम्मानपूर्ण व्यवहार किया। उनके अनुरोध से उसने सैनिक वेश परित्याग करके महिला के से वस्त्र धारण कर लिये। कुछ समय तक इसी प्रकार रहने के बाद उसका हृदय स्वदेशवासियों के लिए चंचल हो गया। उसने महल की दीवार फांदकर भागने की चेष्टा की किन्तु जमीन पर गिरने और चोट

लगने के कारण वह चेष्टा व्यर्थ गई। वह फिर महल में लाई गई। सेवा-सुश्रूषा से ठीक होने पर उसे ड्यूक आफ बर्गंडी के पास भेज दिया गया। अब वह कारागृह में रखी गई। उसे साधारण बन्दियों की भांति हथकड़ी-बेड़ी डाले हुए रीम्स के राजपथ से ले जाया गया। उसे अशिक्षित और चरित्रहीन सैनिकों के अधीन रहना पड़ रहा था। अतः उसने फिर पुरुषोचित वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास-लेखक टर्नर ने उस समय बन्दीगृह में जोन की जो अवस्था हो रही थी उसका दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि उसके दोनों पैर लोहे की मजबूत जंजीरों से बंधे हुए थे। एक जंजीर से उसका दुर्बल शरीर इस प्रकार बीचोबीच में बंधा हुआ था कि वह हिल-डुल न सके। उसके लिए एक लोहे का पिंजरा बनाया गया था जिसमें उसके हाथ-पैर-गर्दन सब बंधे रहते थे। जब जोन इस प्रकार के कष्ट भोग रही थी, चार्ल्स निकम्मेपन से दिन बिता रहा था।

प्राणदण्ड

इधर जोन कारागृह के कष्ट सहन कर रही थी उधर शत्रु लोग उसके नाश के लिए उपाय ढूंढ़ रहे थे। जोन के विचार का भार बोवेय नगर के धर्माध्यक्ष कचन और पवित्र धर्मशासन के प्रतिनिधि को सौंपा गया। वे जोन को प्राणदण्ड देना चाहते थे, किन्तु दें किस आधार पर? उसके जन्मस्थान तथा अन्य स्थानों पर उसके विरुद्ध बातें जानने एवं गवाह लाने के लिए जासूस भेजे गए, किन्तु जब उन्होंने वहां जाकर उसके सम्बन्ध में पूछा तो लोगों ने सब जगह उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। कोई-कोई तो उसके सद्गुणों का वर्णन करते-करते रोने लगते। ९ जनवरी, १४३१ को विचार प्रारम्भ हुआ। कचन और धर्म-शासन के प्रतिनिधिगण विचारासन पर बैठे।

कचन ने जितने प्रमाण उसके विरुद्ध ढूंढे थे उसे प्राणदण्ड देने के लिए पर्याप्त नहीं समझे गए। कचन ने अपने मेल के आदमियों को इस विचार-कार्य में सहायता देने के लिए बुलाया और मतभेद रखने वालों को हटा दिया। इस प्रकार कण्टकों के दूर हो जाने पर २१ फरवरी को जोन फिर विचारालय में बुलाई गई। उससे अनेक प्रश्न किये गए। उसने निर्भीकता पूर्वक उत्तर दिये। ३-४ दिन तक कार्रवाई होती रही। अनेक प्रश्न करके भी वे उसे अपराधी सिद्ध न कर सके। विचारकों में मतभेद हो गया। दो धर्म-याजकों ने जोन का पक्ष लिया। उन्होंने कारागार में जाकर जोन को सुझाया कि वह पेशी होने के पहले पोप के पास यथाविधि विचार के लिए प्रार्थना करे। जोन ने ऐसा ही किया। कचन यह सुनकर बड़ा बिगड़ा और पूछा कि जोन को यह सलाह किसने दी। पता लगने पर उन दो धर्म-याजकों ने डरकर विचारालय में आना बन्द कर दिया। अब तो सुविचार की थोड़ी भी आशा नहीं रही।

ईस्टर के पहले सप्ताह में वह बीमार हो गई। इस सप्ताह के रविवार को धर्म-मन्दिर में जाने के लिए उसके प्राण बहुत तड़फड़ाये किन्तु वह अन्धकार-पूर्ण बन्दीगृह सोमवार को भी न खुला। मंगलवार को वह विचारालय में लाई गई। उससे उसकी पुरुषोचित वेश-भूषा के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये गए। इन दिनों वह बहुत बीमार हो गई थी। बड़ी कठिनाई से किसी तरह उसके प्राण बचे। उसे यह कहा गया कि वह धर्मद्वेषिणी होना स्वीकार कर ले तो उसे छोड़ दिया जायगा। यह कहलाने के लिए उसे अनेक प्रलोभन दिखाये गए तथा वे चाहते थे कि उससे स्वयं ही धर्म-द्वेषिणी कहलाकर उसे प्राणदण्ड के योग्य सिद्ध कर दें। किन्तु जोन ने सदा यही कहा—*यदि मुझे*

अग्नि-कुण्ड में फेंक दोगे तो भी जो कुछ कह चुकी हूँ उसीपर दृढ़ रहूँगी ।" अन्त में २६ मई को कचन ने यह घोषणा की कि धर्म-द्वेषिता के अपराध में जोन को जीवित ही अग्नि-कुण्ड में जला दिया जायगा । रायन नगर के एक पुराने बाजार में स्थान निश्चित हुआ । मंच पर कचन और अन्य धर्म-याजकगण बैठे ! सामने चिता बनाई गई । जोन इस चिता पर खड़ी की गई । उसका सारा शरीर जंजीरों से जकड़ा हुआ था । जोन ने घुटने टेककर कुछ देर प्रार्थना की । फिर उसने उपस्थित जनता से कहा—"आप लोग मेरी आत्मा के कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना कीजिये ।" ये शब्द उसने ऐसे आवेग से कहे थे कि शत्रु भी आँसू न रोक सके । स्वयं कचन के नेत्रों से आँसू की बूंदें टपक पड़ीं । उसने आँसू पोंछकर दण्डाज्ञा सुनाई—

"तुमने शैतान द्वारा प्रेरित होकर अपकर्म किया है । इसलिए हम तुमको स्वधर्म-त्यागिनी समझकर प्राणदण्ड की आज्ञा देते हैं ।"

वीर बालिका ने अपने को भगवान् पर छोड़ दिया और एक क्रास-दण्ड मांगा । एक अंग्रेज ने अपने हाथ की छड़ी से क्रास बनाकर उसे दे दिया । जोन उसे भक्तिपूर्वक हृदय में धारण करके मरने के लिए तैयार हो गई । आग लगा दी गई । उसने अन्तिम समय कहा—"*निश्चय ही मुझे धोखा नहीं हुआ, जो वाणी मैंने सुनी थी वह निश्चय ही भगवद्वाणी थी ।*" थोड़ी ही देर में अनल-शिखाओं ने उसके पवित्र शरीर को भस्मीभूत कर दिया ।

श्रद्धांजलि

इस तपस्विनी वीरांगना ने जन्मभूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी'

समझ कर उसकी पूजा की। उसने स्वजाति को प्राणों से भी अधिक प्रेम किया और स्वाधीनता देवी के मन्दिर में हंसते-हंसते आत्म-बलिदान किया। विधाता के इंगित से उसने जो महाव्रत धारण किया था उसे सब भोग-विलास छोड़कर तथा अन्त में अपने प्राण देकर पूरा कर दिया। आरलिस नगर को दासत्व-शृङ्खला से मुक्त करना तथा सम्राट को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करवाकर स्वाधीनता के पथ को सरल कर देना उसके ही अनुरूप कार्य था। उसकी चिता-भस्म नदी में फेंक दी गई। उसके पवित्र श्मशान-क्षेत्र की भस्मराशि की पुण्यस्मृति का अन्तिम चिह्न भी उन्होंने न रहने दिया। किंतु क्या चिता-भस्म के बहा देने से उसकी स्मृति बहा दी जा सकती है? २६ वर्ष बाद ही रायन के जिस धर्म-मंदिर में बैठकर शत्रुओं ने उसे प्राणदण्ड के योग्य घोषित किया था वहीं फ्रांस के प्रसिद्ध धर्मयाजकों ने मिलकर उनके फैसले को न्यायविरुद्ध सिद्ध किया। जोन को 'साधु' की पदवी प्रदान की गई। उसका स्मारक बनाया गया और आज भी फ्रांस के सशस्त्र सैनिक उस स्थान से आते-जाते हुए उस दिवंगत आत्मा का अभिनन्दन करते हैं।

: ८ :

ग्विसेप गेरीबाल्दी

भारतीय इतिहास में मेवाड़ी वीरों का स्वातंत्र्य-युद्ध स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। इनके ऊपर मुसीबतों के पहाड़ टूटे, प्रियजनों के वियोग की गाज गिरी और निरंतर

दुर्दैव की अग्निवर्षा हुई। किंतु ये हिमालय की भांति अटल रहे। इन्होंने स्वतंत्रता के यज्ञ में हंसते-हंसते अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया। विचलित होना इन्होंने जाना ही नहीं था, नतमस्तक होना तो दूर। इटली का उद्धारक ग्विसेप गेरीबाल्दी भी स्वतन्त्रता के ऐसे ही दीवानों में से था।

जन्म और बाल्यकाल

गेरीबाल्दी का जन्म १८०७ ई० में नीस नगर में हुआ। उसका पिता एक साधारण नाविक था। गरीबी के कारण ये लोग बड़े कष्ट से जीवन बिता रहे थे। *गरीबी अभिशाप भी है और वरदान भी। वह मनुष्य को पतन के गर्त में ढकेल सकती है तो उसे उत्थान के शिखरों पर भी चढ़ा सकती है।* किंतु अधिकांश में वह अभिशाप ही सिद्ध हुई है। उसने कितने ही लोगों को पथ-भ्रष्ट कर दिया है। परन्तु गेरीबाल्दी के माता-पिता उन व्यक्तियों में से नहीं थे जो गरीबी के कारण पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। उन्होंने उसे वरदान माना और सदैव धर्म का अनुसरण किया। उसकी मां जब किसी गरीब को देखती तो सहानुभूति से द्रवित हो जाती थी। माता के इन्हीं सद्गुणों ने उनके हृदय में देश-प्रेम का बीज बो दिया। वह बचपन से ही बड़ा निर्भीक और साहसी था। कभी किसीसे बन्दूक मांगकर शिकार खेलने चला जाता और कभी नावों में घूम जाता था। अपनी टोली का वह नेता था, खेल-कूद में सबसे आगे रहता था। जब किसी विषय पर निर्णय करना होता था तो वही निर्णय-कर्ता भी चुना जाता था। पढ़ने-लिखने में भी वह सबसे आगे रहता था। जब किसी पुस्तक में उसका मन लग जाता तो घंटों तक उसे पढ़ा करता था। वह इतना साहसी और वीर था कि आठ वर्ष की आयु में ही जब उसने एक स्त्री को नदी

में डूबते देखा तो कूद कर उसे निकाल लाया। इस घटना के कुछ समय बाद जब वह अपने साथियों के साथ नौका-विहार कर रहा था तो अचानक जोर का तूफान आया। साथी घबराने लगे और नाव भी शायद जलनिमग्न हो जाती। किंतु वह पानी में कूद पड़ा और नाव को सकुशल किनारे पर ले आया। उसके जीवन की ऐसी अनेक कहानियां लोगों की जबान पर हैं। उसके इन्हीं गुणों ने उसे आगे चलकर इटली का कर्णधार बना दिया।

पादरियों से घृणा

वह बड़ा ही कुशाग्र-बुद्धि था। उसे अच्छी शिक्षा दिलाने का पूरा प्रयत्न किया गया। उसके माता-पिता चाहते थे कि वह धर्मप्रचारक (पादरी) बने; किंतु उसे नौ-सैनिक और नाविक-जीवन की धुन सवार थी। एक घटना ने तो उसके ऊपर ऐसा प्रभाव डाला कि वह पादरियों को घृणा की दृष्टि से देखने लगा। जब वह लगभग १५ वर्ष का था तो उसके हृदय में पर्यटन की इच्छा प्रबल होने लगी। उसने अपने साथियों से जिनोआ चलने का प्रस्ताव किया और वे एक नाव में कुछ आवश्यक सामान लेकर चल पड़े। वे कुछ ही दूर गये होंगे कि एक पादरी ने उनके भागने की सूचना उसके पिता को दे दी। पिता एक तेज नाव लेकर चला और इन लोगों को वापस पकड़ लाया। जब गेरीबाल्डी को यह मालूम हुआ कि पादरी ने उनका पता दिया था तो उसे इतना क्रोध आया कि वह जीवन भर पादरियों को घृणा की दृष्टि से देखता रहा। पिता ने उसकी यह प्रवृत्ति देखकर उसे सार्डिनिया की जल सेना में नौकरी करने की अनुमति दे दी। अब उसने कई यात्राएं कीं जिससे उसका ज्ञान बढ़ता गया और उसे कष्ट-सहिष्णुता

दृढ़ता आदि की उपयोगी शिक्षाएं मिलती गईं ।

"तरुण-इटली का विद्रोह"

इटली की अवस्था इस समय बड़ी ही शोचनीय थी । उत्तरी भाग आस्ट्रिया के अत्याचारों का शिकार हो रहा था, मध्य देश में पोप का अंधेरा फैला हुआ था और पश्चिम में पेडमाण्ट का शासक जुल्म कर रहा था । इस संकटमय स्थिति का इटली के नवयुवकों पर प्रभाव पड़े बिना न रहा और वे इस दमन और अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए विकल हो उठे । वे चाहते थे कि इटली को विदेशियों के बंधन से मुक्त करके उसे संसार के अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों के समकक्ष बना दें । केवल शिक्षित ही नहीं बल्कि अशिक्षित जनता भी उत्साह से भरी हुई थी । युवकों ने 'तरुण इटली' नामक एक संस्था की स्थापना की जिसका प्राण मेज़िनी था । १८३२ ई० में इस संस्था ने निश्चय किया कि देश में विप्लव किया जाय और उसका आरम्भ पेडमाण्ट से हो । गेरीबाल्डी ने जब यह सारी बातें सुनीं तो वह खुशी से उछल पड़ा । यह संस्था वही कर रही थी जो वह चाहता था । अतः उसने तुरंत सेना की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और मेज़िनी की सहायता के लिए जा पहुँचा । किन्तु पूरी तैयारी भी नहीं हो पाई थी कि भण्डा फूट गया । मेज़िनी तो गिरफ्तार कर लिया गया किन्तु गेरीबाल्डी बड़ी होशियारी से निकल भागा । वह किसान के वेश में जिनोआ से नीस और नीस से फ्रांस चला गया । मार्सेल्स में उसने एक समाचारपत्र में पढ़ा कि उसे गोलियों से उड़ा देने की सज़ा की घोषणा कर दी गई है । इस बात से उसे दुःख होने के बजाय प्रसन्नता हुई कि उसका नाम समाचार-पत्र में प्रकाशित

हुआ। लेकिन सरकार की निगाह में वह एक भयंकर क्रांतिकारी बन चुका था। उसे पकड़ने के लिए गुप्तचर भेजे गए और पुरस्कार घोषित किया गया। अतएव उसने अपना नाम बदल लिया और दो साल तक इधर-उधर छिपता रहा।

दक्षिणी अमेरिका में

१८३६ ई० में उसने अमेरिका को प्रस्थान किया। वहां उसने शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने वाले निवासियों के साथ बड़ी सहानुभूति दिखाई। एक दिन जब उसने विद्रोहियों का साथ देने वाले इटालियन लोगों को हथकड़ी-बेड़ी पहिने देखा तो उसके क्रोध की सीमा न रही और प्रतिशोध की ज्वाला से उसका हृदय धधक उठा। वह छोटी-छोटी टुकड़ियां लेकर वर्षों तक जंगलों में लड़ता रहा। यहां आकर उसने अपना विवाह भी कर लिया था। उसकी पत्नी अनीता ने हर कार्य में उसका पूरा साथ दिया। इन दिनों उसने बड़े कष्ट उठाए। उसे सोने तक के लिए समय नहीं मिलता था, किन्तु फिर भी वह बहादुरी से लड़ता रहा।

इटली लौटना

इधर इटली में यद्यपि 'तरुण इटली' के अधिकांश सदस्य निर्वासित थे किन्तु गुप्तरूप से उनके विचारों का प्रसार हो रहा था। १८४८ ई० में यह जोश बहुत बढ़ गया और कई नगरों में जनता ने आजादी का आंदोलन छेड़ दिया। मिलना और जिनोआ में आस्ट्रिया की सेना हार गई। इधर पेडमाएट के शासक और पोप ने अपना दमन कम कर दिया। पेडमाएट के शासक ने तो इस भय से कि कहीं प्रजा उपद्रव न करने लगे विद्रोहियों की गुप्त रीति से मदद भी करना आरम्भ कर

दिया। जब ये खबरें अमेरिका पहुँची तो गेरीबाल्दी का हृदय स्वदेश लौट आने के लिए आकुल हो उठा और वह अपने छप्पन साथियों को लेकर स्वदेश के लिए रवाना हो गया। नीस के समुद्र-तट पर उसका स्वागत करने के लिए विशाल जन-समूह इकट्ठा हो गया था। गेरीबाल्दी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जनता में सच्चे स्वातंत्र्य-प्रेम की भावना जागृत हो गई है।

युद्ध-संचालन

इटली लौटकर गेरीबाल्दी ने पोप के दरबार में नौकरी की दरख्वास्त दी, किन्तु वहां के ढंग देखकर उसे निराश होना पड़ा। फिर उसने पेडमांट के शासक को अपनी सेवाएं समर्पित कीं, किंतु यहां भी उसे निराश होना पड़ा। इसी बीच जन-विप्लव से डरकर पोप रोम से भाग गया। उसके भागने के समाचार सुनते ही निर्वासित देशभक्तों के दल रोम आ गये और वहां एक अस्थायी सरकार की स्थापना हुई। वीर देशभक्तों ने बड़े उत्साह से रोमन प्रजातंत्र की घोषणा की और मेज़िनी के अधिनायकत्व में तीन नेताओं के हाथ में शासन की बागडोर सौंप दी गई। इन तीनों में गेरीबाल्दी भी था। गेरीबाल्दी ने सैनिकों के एक दल के साथ उत्तर की ओर प्रस्थान किया और वहां अदम्य साहस और वीरता का परिचय दिया। निरंतर सफलताओं के कारण उसका यश चारों ओर फैल गया। *शत्रु को सामने पाते ही वह उसपर टूट पड़ता था। वह यह नहीं देखता था कि शत्रुओं की संख्या अधिक है और उसके सैनिकों की कम।* उसका आक्रमण इतना भयंकर होता था कि बड़ी-बड़ी सेनाओं के भी छक्के छूट जाते थे। कितनी ही बार उसने अपने अनुभवहीन

सैनिकों की सहायता से सुसज्जित सेनाओं को परास्त कर दिया।

सेना का आत्म-समर्पण

युद्ध के अन्तिम दिनों में उसकी इच्छा थी कि वीरगति प्राप्त करे। उसके सारे साथी एक-एक करके मरते जा रहे थे और वह जीवित था, यही उसके दुःख का कारण था। वह इसी विचार से लड़ता रहा; किन्तु उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। एक दिन उसे समाचार मिला कि परिषद् की बैठक हो रही है, जिसमें उसकी उपस्थिति अनिवार्य है। वह धूल और रक्त से सना हुआ परिषद् में पहुँचा। परिषद् के सामने रोम के नये प्रजातंत्र के भाग्य-निर्णय का प्रश्न था। फ्रांसीसी सेना नगर के द्वार पर डटी हुई थी, गेरीबाल्दी ने आत्म-समर्पण का विरोध किया और भागकर पहाड़ों में आश्रय लेने की सलाह दी। परन्तु उसके लौट जाने पर उसकी अनुपस्थिति में आत्म-समर्पण के पक्ष में निर्णय हो गया। मेज़िनी ने इसका बहुत विरोध किया और रोम छोड़कर वह स्वीज़रलैंड चला गया। गेरीबाल्दी ने जब यह निर्णय सुना तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसने शीघ्र ही अपनी सेना को एकत्र किया और बड़े ही मार्मिक शब्दों में उनके सामने पहाड़ों में भाग जाने का प्रस्ताव रखा। पांच हज़ार सैनिकों ने उसका प्रस्ताव स्वीकार किया और उसकी आज्ञानुसार कार्य करने की प्रतिज्ञा की।

भीषण यात्रा और पत्नी का प्राणोत्सर्ग

तुरंत ही सारी सेना पहाड़ों के लिए चल पड़ी। गेरीबाल्दी की पत्नी भी पुरुषवेष में उसके साथ थी। शत्रुओं की सेनाएं इनका पीछा कर रही थीं परन्तु ये भूख-प्यास किसीकी परवाह न करते हुए आगे बढ़े चले जा रहे थे। कितने ही

सैनिकों ने मार्ग में प्राण दे दिए और कितनों ही ने कष्ट न सहन कर सकने के कारण आत्म-समर्पण कर दिया।

आस्ट्रियन सेनापति ने गेरीबाल्दी के पास खबर भेजी कि यदि वह आत्म-समर्पण कर दे तो उसे अमेरिका जाने की छूट दे दी जायगी। गेरीबाल्दी ने गुस्से में इस पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिये परन्तु उसने अपने साथियों को प्रतिज्ञा से मुक्त करके उन्हें अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी। इसपर लगभग ६०० सैनिकों ने शत्रु को आत्म-समर्पण कर दिया। गेरीबाल्दी अपने चुने हुए २०० सैनिकों के साथ शत्रु की सेना को चीरता-फाड़ता समुद्र के किनारे पहुंच गया। यहां उसके सैनिकों ने कुछ नावों पर अधिकार कर लिया और उसमें चढ़कर वे लोग वेनिस की ओर चले। आस्ट्रियन बेड़े ने उसका पीछा करके १३ नावों को पकड़ लिया। केवल दो नावें बचीं जिनमें गेरीबाल्दी, उसकी पत्नी तथा कुछ सैनिक थे। बीमारी के कारण अनीता इतनी दुर्बल होगई थी कि उसमें चलने की शक्ति नहीं रही थी। गेरीबाल्दी उसे अपनी गोद में लेकर एक टापू के किनारे उतरा। परन्तु वहां भी दुर्भाग्य ने उसका साथ नहीं छोड़ा। शिकार खेलती हुई आस्ट्रियन नावें वहाँ आ गईं और देखते-ही-देखते सारा समुद्र-तट भर गया। ये लोग छिपने लगे किन्तु नौ व्यक्ति पकड़ लिए गए जिन्हें गोलियों से उड़ाकर वहीं कब्रों में गाड़ दिया गया। अनीता को लिए हुए गेरीबाल्दी अपने विश्वस्त साथी कप्तान लेगिओरो के साथ भागा। लेगिओरो के पैर में गोली लगी हुई थी किन्तु फिर भी वह लंगड़ाते हुए भागा जा रहा था। सौभाग्य से एक दयालु किसान ने अपनी झोपड़ी में इन्हें आश्रय दिया। रात्रि में इन्हें एक सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया गया। अनीता प्यास से व्याकुल हो रही थी, किन्तु यहाँ समुद्र के खारे जल के

अतिरिक्त क्या मिल सकता था। उसे लिए हुए वे एक निर्जन मकान के पास पहुंचे परन्तु यहाँ लिटाते ही उसने सदा के लिए आँखें बन्द कर लीं। पत्नी का यह करुण अवसान गेरीबाल्दी अन्त समय तक नहीं भूल सका।

प्रवास

इस भाग-दौड़ में अपनी पत्नी को दफनाने का भी समय गेरीबाल्दी के पास नहीं था। यह काम वहाँ के किसानों को सुपुर्द करके वह वेनिस, जनोआ और जिब्राल्टर होता हुआ लिवरपूल पहुँचा। परन्तु उसे अपनी अभीष्ट सिद्धि का उपाय कहीं नहीं दिखाई दिया। अन्त में उसने अमेरिका जाने का निश्चय किया। वहाँ पहुँचकर उसने एक जहाज पर नौकरी कर ली। कुछ वर्ष बाद वह इंगलैण्ड के न्यूकैसल बन्दरगाह पर आया। वहाँ जनता ने उसका बड़ा ही शानदार स्वागत किया और उसे एक तलवार भेंट की।

सिसली पर आक्रमण

प्रवास में गेरीबाल्दी ने जो धन एकत्र किया था उससे उसने कपरेरा नामक द्वीप खरीद लिया और वहीं बसकर खेती करने लगा। यहाँ उसके पास देशभक्तों ने सिसली में आकर सहायता करने का निमन्त्रण भेजा। गेरीबाल्दी तुरन्त एक हजार साथियों को लेकर जहाज में चल पड़ा। सिसली के मारसला नामक बन्दरगाह पर जनता ने बड़े उत्साह से इनका स्वागत किया। स्थान-स्थान से लोग आकर गेरीबाल्दी की सेना में भर्ती होने लगे। देखते-ही-देखते बारह हजार सिपाही उसके नेतृत्व में लड़ने-मरने को जमा हो गये। यह राष्ट्रीय सेना सिसली की राजधानी पलेरमों की ओर बढ़ी। यहाँ पर डेढ़ लाख

नियोपोलिटन सेना उसका सामना करने के लिए पड़ी हुई थी। शत्रुसेना की विशालता देखकर गेरीबाल्दी के कुछ सैनिकों की हिम्मत छूटने लगी। अतः उसने बड़े ही जोशीले शब्दों में उन्हें उत्साहित किया और मर-मिटने के लिए तैयार कर लिया। तीन दिन तक घमासान युद्ध हुआ, किन्तु प्राणोत्सर्ग करनेवाले देशभक्तों के सामने भाड़े के टट्टू कबतक टिक सकते थे? उनके पैर उखड़ गए और पलेरमों गेरीबाल्दी के अधिकार में आ गया। इस असाधारण विजय के फलस्वरूप एक के बाद दूसरा नगर उसके अधीन होता गया और अन्त में सारे द्वीप पर गेरीबाल्दी का अधिकार हो गया।

पेडमाएट की स्वतन्त्रता

सिसली को विदेशियों के चंगुल से छुड़ाकर गेरीबाल्दी अपनी सेना सहित इटली के दक्षिणी समुद्रतट पर जा उतरा। यहां भी खबर पाते ही लोग आ-आकर उसके दल में सम्मिलित होने लगे। उसने नेपल्स में प्रवेश किया और सिसली तथा नेपल्स दोनों को पेडमाएट के राज्य में सम्मिलित कर दिया। इन महान सेवाओं के लिए उसे कई उपाधियां, पेन्शन तथा पुरस्कार प्रदान करने के प्रस्ताव रखे गए, किन्तु उसने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। *उसने पुरस्कार या पदवी के लोभ से कुछ किया ही नहीं था, फिर उन्हें लेकर क्या करता? अपना कर्तव्य-पालन करके उसे संतोष की जो अमूल्य निधि प्राप्त हुई उसकी तुलना में उपाधियों और पुरस्कारों का क्या मूल्य रह गया?*

संयुक्त इटली के लिए प्रयत्न

इस विजय से लौटकर उसने दो वर्ष अपनी शान्ति-कुटीर में व्यतीत किये। इस समय रोम पोप के और वेनिस आस्ट्रिया

के आधीन था। वह चाहता था कि ये भी स्वाधीन हो जायं। उसने वहीं से बैठे-बैठे उनमें स्वाधीनता के भाव भरना आरम्भ किया और जब वे लोग तैयार हो गए तो वह चुने हुए वीरों की एक सेना लेकर चल पड़ा। पेडमाएट के राजा विक्टर इमानुएल को यह बात बुरी लगी। अतएव उसने गेरीबाल्डी को रोकने के लिए सेना भेजी। गेरीबाल्डी अपने ही देशवासियों से लड़ना नहीं चाहता था, इसलिए उसने युद्ध को बचाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु अन्त में वह घिर ही गया। बहुत सम्भव था कि वह यहां से भी साफ निकल जाता, किन्तु उसे कई गहरे घाव लगे जिनके कारण उसे विवश होकर लौटना पड़ा और महीनों तक बिस्तर पर पड़े रहना पड़ा।

वेनिस की मुक्ति

१८६४ ई० में उसने इंग्लैण्ड की यात्रा की, जहाँ उसका बड़ी धूमधाम और ठाटबाट से स्वागत किया गया। कई मान-पत्र और तलवारें भेंट की गईं।

अब आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध छिड़ चुका था। इसे अपनी उद्देश्य-सिद्धि का अच्छा अवसर जानकर वह जिनोआ आया और आस्ट्रिया के विरुद्ध विप्लव आरम्भ कर दिया। इस युद्ध में उसको रान में ज़ोर का घाव लगा परन्तु अच्छा होते ही वह फ्रांस पहुँचा और वहां से आक्रमण करने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु यहां उसे फिर आस्ट्रिया की सेना से घमासान युद्ध करना पड़ा जिसमें उसकी विजय हुई। आस्ट्रिया ने संधि-चर्चा आरम्भ कर दी। इस प्रकार वेनिस वालों की भी इच्छा पूर्ण हुई और वह एक लम्बे समय के बाद संयुक्त इटली के झण्डे के नीचे आगए।

अब केवल पोप का ही ऐसा राज्य था जहां राष्ट्रीय

शासन नहीं था। गेरीबाल्दी को उस समय तक चैन कैसे मिलती जबतक कि वह सारे इटली को एक राष्ट्रीय शासन के अंतर्गत न देख लेता। १८६७ ई० में उसने रोम पर चढ़ाई करने की तैयारियां कीं। इटली की सरकार ने कई बाधाएं डालीं। उसे कैद भी कर लिया, किन्तु अन्त में वह फ्लोरेंस जा पहुँचा। उसके आने की खबर पाते ही देशभक्तों का दल उसके साथ हो गया और जब लड़ाई हुई तो विजयलक्ष्मी उसे ही मिली। इस प्रकार १८७१ ई० में पूरी तरह संयुक्त इटली की स्थापना हो गई और जब विक्टर इमेनुअल बादशाह बने तो गेरीबाल्दी की साध पूरी हो गई।

अन्तिम समय

उसका उद्देश्य पूरा हो चुका था। अतएव अब वह घर लौट आया और अपने कुटुम्ब के साथ जीवन के शेष दिन व्यतीत करने लगा। परन्तु इस समय भी वह निश्चेष्ट नहीं था। वह इटली के शिल्प और उद्योग की उन्नति के विषय में सोचा करता था। १८७५ ई० में उसने रोम की यात्रा की। यहां जिस उत्साह और ठाटबाट से उसका स्वागत हुआ वैसा उदाहरण दुनिया के इतिहास में कठिनता से मिलेगा। जब वह वापस आने लगा तो २० हजार आदमी राष्ट्रीय गीत गाते हुए उसे विदा करने आए। इसी एक दृश्य से उसके सम्मान और कार्य के महत्त्व का परिचय मिल जाता है। अपना शेष जीवन उसने कपरेरा में व्यतीत किया और यहीं पर १८८४ ई० में थोड़े दिन बीमार रहकर वह इस नश्वर संसार से विदा हो गया।

अपने देश के लिए उसने जो त्याग किया वह संसार के इतिहास में अमर है। *वह राष्ट्र का एक सच्चा सिपाही था। वह राष्ट्र के लिए जीवित रहा और राष्ट्र के लिए ही मरा।* उसके कार्य

का जीताजागता प्रमाण यही है कि उसने विभाजित और पददलित इटली को मुक्त करके एक राष्ट्र बना दिया।

: ६ :

अब्राहम लिंकन

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"

मन, वाणी और कर्म–तीनों के साम्य से पूर्ण जीवन होता है। जिस व्यक्ति में इन तीनों का सामञ्जस्य है वही महापुरुष है। जीवन को आदर्श बनाने के लिए तीनों की आवश्यकता है। तीनों में से एक भी गुण दूसरे और तीसरे के बिना अपूर्ण रहता है। कोरे विचार स्वप्न-दर्शिता है, कोरे वचन वाचालता या वंचना है और कोरा कर्म पागलपन है। *जो व्यक्ति अच्छे विषयों का चिंतन और मनन करता है, वही बातें बोलता है और उसीके अनुसार कर्म करता है, वही महापुरुष है।* वह जिस मार्ग पर जाता है वही दूसरों के लिए आदर्श बन जाता है। ऐसे महापुरुष तत्कालीन समाज के पथ-प्रदर्शक हो जाते हैं। अमेरिका के प्रेसीडेण्ट अब्राहम लिंकन भी ऐसे ही महापुरुष थे। अब्राहम लिंकन के जीवन का पूर्वार्द्ध ऐसी निर्धनता, कठिनाइयों एवं बाधाओं में बीता कि उसे देखकर यह कल्पना ही नहीं होती थी कि वह भविष्य में इतना बड़ा आदमी हो जायगा। जीवन के पूर्वार्द्ध में उसे जो कुछ मिला था वह उन्नत जीवन बनाने में बाधक ही था; *किन्तु उसमें सत्यप्रियता, शील और सदाचार के ऐसे बीज थे जो निरंतर पल्लवित और पुष्पित होते गए और अन्त में इन्हीं गुणों*

ने उसे महान् व्यक्ति बना दिया ।

जन्म और बाल्यकाल की कठिनाइयां

अब्राहम लिंकन का जन्म १८०६ ई० में उत्तरी अमेरिका की केन्ट नामक रियासत में हुआ। उसका पिता टामस लिंकन निर्धन किंतु सदाचारी व्यक्ति था। उसका दाम्पत्य-जीवन सुखी और संतुष्ट था। निर्धनता और जीवन की विषमताएं कभी उनके प्रेम में बाधा न डाल सकीं। पति-पत्नी दोनों ही ईश्वर में विश्वास रखते थे और धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। धार्मिक ग्रंथों को पढ़कर उनके अनुसार आचरण करना और वही बातें बालकों को पढ़ाना उनका स्वभाव-सा हो गया था। बालक अब्राहम लिंकन के अन्त:करण में अपने माता-पिता की यह धार्मिक वृत्ति दृढ़ स्थान बनाती गई।

७ वर्ष की अवस्था तक अब्राहम इसी केन्ट-प्रान्त में रहा; किन्तु अब यहाँ निर्वाह न होने के कारण उसके पिता ने प्रांत को छोड़कर इंडियाना प्रान्त में जाने का निश्चय किया। एक नाव बनाई गई और उसमें सब सामान रखकर वह सकुटुम्ब रवाना हुए। बीच धारा में नाव डूबते-डूबते बची और वह बड़ी कठिनाई से इंडियाना पहुँचे। इंडियाना घने जंगलों का प्रान्त था। एक झोंपड़ी बनाई गई और पति-पत्नी बच्चों के साथ रहने लगे। यहाँ भी उन्हें अपनी कठिनाइयों का हल नहीं मिला। फिर भी वे शान्ति और सन्तोष से दिन बिता रहे थे। दुर्भाग्य से उन्हें और भी बुरे दिन देखने थे। अब्राहम की माता क्षय-रोग से पीड़ित थीं। वह असमय में ही चल बसीं। ऐसे समय अब्राहम और उसके पिता पर क्या बीती होगी इसकी कल्पना से रोमांच हो जाता है। उनके शोक की सीमा न रही। पास में एक वृक्ष के नीचे उनका शव दफना

दिया गया। यहां बैठकर शोकाकुल बालक अब्राहम अपनी माता के लिए घंटों रोया करता। माता के इस अवसान से मातृ-प्रेम निरन्तर बढ़ता गया और बालक अब्राहम अपनी माता के सदाचरण और धार्मिकता की ओर अधिक आकर्षित हो कर तदनुकूल अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करने लगा।

शिक्षा

उस समय केंट प्रांत में कोई सरकारी स्कूल नहीं था। वैसे ही गांव के कुछ उत्साही लोगों के प्रयत्न से छोटी-छोटी पाठशालाएं कुछ समय के लिए बन जाती थीं। साधारण पढ़ना-लिखना इन्हीं एक-दो पाठशालाओं में सीखकर अब्राहम को उन्हें छोड़ना पड़ा था। इंडियानाप्रांत में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी, किन्तु इससे उसके अध्ययन में कोई बाधा नहीं हुई। वह धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करने और उनके उपदेशों को जीवन में उतारने का भी प्रयत्न करने लगा। उसने बड़े-बड़े आदमियों के जीवन-चरित्र तथा अन्य अच्छे-अच्छे ग्रंथों का अध्ययन किया। आत्म-कल्याण और स्वदेश-हित संबंधी विचार उसके दिमाग में चक्कर काटने लगे। इस प्रकार अच्छे विषयों का चिन्तन और मनन होने लगा। परोपकार का भाव जाग्रत हुआ और जहां तक सम्भव होता वह दूसरों के हित के कार्य करके संतोष अनुभव करने लगा। वह दूसरों के पत्र लिख देता, पत्र पढ़ देता और अन्य कई प्रकार की सेवाएं कर देता था। पत्र लिखते-लिखते तो उसे अपने भावों को बड़ी कुशलता से व्यक्त करने की आदत हो गई। *अपने आरंभिक काल में उसने जो कुछ अध्ययन किया और सदाचार तथा सत्य-प्रेम को जीवन में लाने का प्रयत्न किया वही आगे के जीवन में उसे महान् व्यक्ति बनाने में*

सहायक हुआ।

शील और सत्यप्रियता

पत्नी की मृत्यु हो जाने पर अब्राहम के पिता ने दूसरा विवाह किया। अब्राहम के सदाचरण का प्रभाव उसकी सौतेली मां पर ऐसा पड़ा कि उनमें कभी भी मन-मुटाव नहीं हुआ। वे पुत्र और माता की भांति ही रहने लगे। शीलवान व्यक्ति चाहे कैसी ही परिस्थिति और कैसे ही वातावरण में रहे वह सबको अपने अनुकूल बना लेता है। अब्राहम की सत्यप्रियता तो बड़ी ही प्रसिद्ध थी। उसकी सत्यप्रियता के कई उदाहरण मिलते हैं। एक समय अपने शिक्षक से वह वाशिंगटन का चरित्र पढ़ने के लिए लाया। खिड़की के पास उसे रखकर वह सो गया। रात को वर्षा हुई और किताब पूरी तरह भीगकर खराब हो गई। प्रातःकाल उठकर जब अब्राहम ने उसे इस अवस्था में देखा तो उसे बड़ा दुःख हुआ। वह तुरंत पुस्तक लेकर अपने शिक्षक के पास गया और कहने लगा—"आपकी पुस्तक को इस प्रकार खराब करके मैंने बहुत बड़ी भूल की है। आप मुझे इसके लिए क्षमा कीजिए। मेरे पास इतने पैसे नहीं हैं कि इस हानि को पूरा कर सकूं किन्तु इसके बदले में मैं आपका कोई काम करने के लिए तैयार हूँ। यदि आप मुझसे कोई काम करा लेंगे तो बड़ा उपकार होगा।" अब्राहम की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। उसे घास काटने का काम दिया गया। तीन दिन तक घास काटकर अब्राहम ने बड़ा संतोष अनुभव किया। *इससे यह प्रकट होता है कि उसे किसीके ऋण में बंधे रहने से कितनी घृणा थी।* बाल्यकाल ही में वह कितना सुशील, सत्यप्रिय और सदाचारी था, यह इन घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है। उसकी दयालुता के तो

कई उदाहरण मिलते हैं। किसीको भी कष्ट में देखकर वह स्वयं वैसा दुःख अनुभव करने लग जाता था और यथाशक्ति सहायता करके शान्ति और संतोष अनुभव करता था।

उद्योग

अब अब्राहम की अवस्था सत्रह-अठारह वर्ष की हो चुकी थी। दूसरों की सहायता करने में उसे जितना आनन्द मिलता था उससे भी अधिक अपने माता-पिता की सेवा-सहायता में मिलता था। अपने सदाचार और परिश्रम से उन्हें वह सदैव प्रसन्न रखता था। वह घर के कामों में माता की और खेती मजदूरी आदि के कामों में अपने पिता की सहायता करता था। शरीर में अब काम-काज करने की शक्ति भी बढ़ गई थी। उसका शरीर सुदृढ़ था और आचरण बहुत ही पवित्र। वह जो कुछ काम अपने हाथ में लेता था उसे अच्छी तरह पूरा करके ही छोड़ता था। ईमानदारी और उद्योग-प्रियता के कारण उसे काम भी बहुत मिल जाते थे। वह नियमित रूप से काम भी करता था और विद्याध्ययन भी। अतः उसकी शक्ति और बुद्धि दोनों का ही साथ-साथ विकास हो रहा था। आसपास के लोग उसके आचरण से बहुत खुश थे। वे उसपर बड़ी ममता रखते थे और कहते थे कि उसके आचरण ईश्वरीय आदर्श के समान हैं। अपनी ज्ञान-प्रियता से उसने कई ग्रंथों का अवलोकन किया और बिना किसीकी सहायता के बहुत-सा ज्ञान-उपार्जन कर डाला। उसकी बातों पर सब विश्वास करते थे और सभी उसके आचार-विचार पर मुग्ध थे।

स्वावलम्बन

जब से वे उस प्रांत में आये, परिवार का कोई-न-कोई

व्यक्ति बीमार रहा करता था। दूसरे बहुत परिश्रम करने पर भी उन्हें निर्वाह के योग्य पैसा नहीं मिलता था; अतएव टामस लिंकन ने इलिनाइस प्रान्त में चले जाने का निश्चय किया। पिता-पुत्र ने बड़ी कठिनाई से एक गाड़ी में सामान लादकर प्रस्थान किया। यहां भी अपने हाथों से जंगल साफ करके मकान बनाया गया। किन्तु यह नया स्थान भी उन्हें पसन्द न आया। यहां भी बीमारियां सताने लगीं; अतएव वे इस प्रांत को भी छोड़कर कोल्स नामक प्रांत में जा बसे। डेंटन ओकट नामक एक व्यापारी ने अब्राहम की कीर्ति सुनी। वह उससे मिलने आया और स्प्रिंगफील्ड में चलने के लिए आग्रह करने लगा। अब्राहम ने उसकी बात मान ली और वह सकुटुम्ब वहां पहुंच गये। न्यूसालेम नामक नगर में डेंटन की एक बहुत बड़ी कोठी थी। वहां पर जो गुमाश्ता काम करता था वह बड़ा ही दुराचारी और मूर्ख था। इसलिए डेंटन को बहुत नुकसान हो रहा था। अब्राहम उसके स्थान पर गुमाश्ता नियुक्त किया गया। अब्राहम ने यह कार्य बड़े ही परिश्रम और ईमानदारी से किया। उसकी मिलनसारी, नम्रता और सत्याचरण के कारण ग्राहकों की संख्या बढ़ने लगी और डेंटन को लाभ होने लगा। इस प्रकार उसने अपने मालिक और ग्राहकों को खुश रखा। इस समय वह इतना कमा लेता था कि उसके परिवार का भरण-पोषण पूरी तरह हो जाता था।

निर्वाचित कप्तान

अमेरिका के मूल-निवासी यूरोपवासियों के आ जाने पर जंगलों में जाकर रहने लगे थे। ये लोग नवागत यूरोपवासियों से बड़ी शत्रुता रखते थे। इनके रहने का स्थान मिसिसिपी नदी के पश्चिमी किनारे पर था। १८३२ ई० में उनके सरदार

ब्लेकहाक ने मिसिसिपी पार करके आक्रमण कर दिया। इधर से सेनापति एटकिन्सन और सूबेदार रेनाल्डस ने लड़ाई की तैयारी की। सेना की आवश्यकता हुई और स्वयंसेवक भर्ती किये जाने लगे। न्यासालेम गांव के कुछ लोगों के साथ अब्राहम ने भी अपना नाम दे दिया। उस समय यह प्रथा थी कि स्वयंसेवक ही अपने कप्तान का चुनाव किया करते थे। इस प्रथा के अनुसार चुनाव का कार्यक्रम निश्चित हुआ। अब्राहम और कर्क पेट्रिक के नाम सुझाए गए। अतएव दोनों व्यक्तियों को बुलाकर अलग-अलग खड़ा किया गया और सैनिकों से कहा गया कि जो सैनिक जिसे चाहे उसके पास जाकर खड़ा होजाय। ६० प्रतिशत सैनिक अब्राहम के पास आकर खड़े होगए और वह कप्तान नियुक्त कर दिया गया। आगे बड़े-बड़े पदों पर भी पहुंच जाने पर वह कहा करता था कि—"इस चुनाव में मुझे जितना आनन्द हुआ उतना और किसी चुनाव में नहीं हुआ।" सेना ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया और जगह-जगह लड़ाइयां लड़ी गईं। अब्राहम लिंकन अपने अधीनस्थ सैनिकों की रक्षा और देख-भाल अपने प्राणों से भी बढ़कर करता था। वह ऐसी चित्ताकर्षक बातें करता था कि सैनिक उसे बहुत चाहते थे। इसके अतिरिक्त वह हृष्ट-पुष्ट और शक्तिशाली था। उसको बराबरी करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति सेना में नहीं था। उसने कई लड़ाइयां लड़ीं और अन्त में शत्रु को पराजित किया। ब्लेकहाक अपने कई साथियों के साथ पकड़ लिया गया। इस प्रकार इस लड़ाई का अन्त हुआ।

लड़ाई समाप्त हो जाने पर अब्राहम को कोई काम न रहा। वह किसी काम की तलाश में फिरने लगा। इसी समय कांग्रेस का चुनाव होने वाला था। अब्राहम को उसकी आशा के

विरुद्ध इसमें सफलता मिली। उसे दूसरों की अपेक्षा २७७ मत अधिक मिले थे; किन्तु सब प्रांतों के चुनाव में उसका नाम न आ सका, क्योंकि अभी अन्य प्रांतों के लोग उसे नहीं जानते थे। उसको इससे कोई दुःख नहीं हुआ। जिन्होंने उसे चुना था उन्हें अवश्य बुरा लगा।

पोस्टमास्टर

कुछ समय तक व्यापार करने के बाद सरकार ने उसे उस गांव का पोस्टमास्टर नियुक्त किया। वेतन कम होने से उसका निर्वाह नहीं होता था, अतएव उसे दूसरा धंधा भी करना पड़ा, किन्तु इससे पोस्ट-आफिस के काम में कोई बाधा न आने पाई। पोस्ट-आफिस के पैसे को वह अलग रखता था और बहुत आवश्यकता पड़ने पर भी उसे खर्च नहीं करता था। इस संबंध में एक आश्चर्य-जनक घटना का उल्लेख किया जाता है। कहा जाता है कि उसने जब पोस्ट-मास्टरी का काम छोड़ा तब उसके पास कुछ पैसे बच गए। इस बचत का कोई हिसाब नहीं मिला। अतः सरकार में जमा भी कैसे कराये जाते ? तब उसने इस रकम को पुड़िया में बांधकर अपनी टोपी में रख लिया। कई बार ऐसा मौका आया कि उसके पास एक भी पैसा नहीं रह गया किन्तु उसने इस पुड़िया को हाथ नहीं लगाया। कई वर्षों के बाद जब वह वकील हो गया तो पोस्ट-आफिस के किसी अधिकारी की नज़र इस गलती पर पड़ी और यह निश्चित हुआ कि यह रकम अब्राहम लिंकन से वसूल की जाय। सारा हिसाब लेकर एक आदमी उसके पास भेजा गया। इस समय वह मुकदमे के कागज देख रहा था। हिसाब देखकर उसने अपनी टोपी में से वह पुड़िया निकालकर दे दी। यह देखकर उस अधिकारी को बड़ा आश्चर्य हुआ।

सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में

१८३७ ई० में उसने वकालत पास की। इस समय वह दूसरी बार धारा-सभा का सभासद चुना गया। उसने वकालत आरम्भ की। वकालत के दिनों में उसने हमेशा इस बात का खयाल रखा कि उसका पक्ष सत्य हो। *जिस क्षण उसे यह मालूम हो जाता कि उसका पक्ष सत्य का पक्ष नहीं है, तो वह बड़ा लज्जित हो जाता था और उसी क्षण उस मुकदमे की पैरवी करना छोड़ देता था।* इस सम्बन्ध में कई मनोरंजक घटनाओं का उल्लेख किया जाता है जिनसे यह सिद्ध होता है कि उसकी सत्यप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी और वह गरीबों की सहायता के लिए सदैव तैयार रहता था।

१८४२ ई० में उसका विवाह हुआ। पति-पत्नी में अनन्य प्रेम था। *सार्वजनिक कार्यों में रस लेने के कारण वह काफी प्रसिद्ध हो चुका था और लोगों को उसके सम्बन्ध में यह विश्वास होगया था कि उसे जितना अधिक अधिकार मिलेगा वह उतनी ही अधिक सेवा करेगा। अतएव जब कांग्रेस का चुनाव हुआ तो वह चुन लिया गया।*

दास-प्रथा का विरोध

कांग्रेस में प्रवेश करते ही उसे वहां एक बहुत बड़े प्रतिपक्षी का सामना करना पड़ा। उसका नाम था डग्लस। डग्लस बड़ा बुद्धिमान और अच्छा वक्ता था। गुलामों के व्यापार के सम्बन्ध में अब्राहम लिंकन और डग्लस के विचार एक-दूसरे के विरुद्ध थे। अब्राहम लिंकन गुलामों के व्यापार को बहुत बड़ा पाप समझता था। *वह कहता था कि ईश्वर इसे बिलकुल पसन्द नहीं करता कि मनुष्य-ही-मनुष्य के साथ पशुवत व्यवहार करे।* वह इसे बिलकुल बंद कर देने की फिक्र में था। इस समय दक्षिणी

राज्यों में इतने गुलाम थे कि वहां के किसानों का सारा काम वे ही करते थे। दासत्व-प्रथा के बंद होने की कल्पना से ही उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठती थी। इस प्रश्न के आते ही कांग्रेस में बड़ा मतभेद हो जाता था। दोनों अपने-अपने पक्ष के समर्थन का पूरा प्रयत्न करते। अतएव यह वैमनस्य दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। अब्राहम लिंकन प्रांत-प्रांत का दौरा करके दास-प्रथा का विरोध करता और उसीके पीछे-पीछे डग्लस उसका खण्डन करता फिरता। बड़ा ही विवाद फैल गया। इस हलचल और अशान्ति के फलस्वरूप १८५६ ई० में 'प्रजासत्तात्मक पक्ष' नामक एक समिति की स्थापना हुई। समिति में अब्राहम लिंकन ने जो भाषण दिया वह बड़ा ही धार्मिक था। *अमेरिका के इतिहास में यह व्याख्यान बहुत प्रसिद्ध है। इस व्याख्यान से लोगों को यह विश्वास होगया कि अब्राहम के समान कोई महापुरुष अमेरिका में नहीं है।* १८६० तक वह सारे अमेरिका में बहुत प्रसिद्ध हो गया। लोग उसपर श्रद्धा रखने लगे और वह उत्तरी राज्यों के लोगों के लिए तो पूजनीय बन गया।

कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर

इस समय चारों ओर चुनाव की हलचल मची हुई थी। कांग्रेस के अध्यक्ष का चुनाव होने वाला था। लिंकन इस चुनाव में खड़ा हुआ और १६ जून १८४० ई० को २५ हजार लोगों की सभा में निर्वाचन का नतीजा सुनाया गया तो चारों ओर आनन्द छा गया। बड़े-बड़े शहरों में तोपें दगने लगीं और देश में उत्साह की लहर फैल गई। वह इस समय स्प्रिंगफील्ड नामक नगर में था। इस समाचार को सुनकर उसको प्रसन्नता तो अवश्य हुई किन्तु वह फूला नहीं; क्योंकि वह जानता था कि कितनी बड़ी जिम्मेदारी का काम उसके सामने है। जब वह

स्प्रिंगफील्ड से रवाना हुआ तो हजारों की भीड़ उसे विदा करने के लिए एकत्र हो गई। अब्राहम लिंकन की आंखें भी डबडबा आई। उसने उन्हें सान्त्वना देते हुए विदा ली।

दास-प्रथा का अन्त

विरोध अभी कम नहीं हुआ था। वह स्वयं इस विरोध को देखकर बड़ा दुःखी होता था। अपने अध्यक्ष-पद से उसने जो पहला भाषण दिया उससे तो उसके विरोधी भी पानी-पानी हो गये। अब्राहम लिंकन तथा उत्तर के प्रान्त के निवासियों की यह इच्छा थी कि दासत्व-प्रथा का अन्त कर दिया जाय। दक्षिण के निवासी दासत्व-प्रथा के समर्थक थे। इस चुनाव से उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। उन्होंने चार्ल्सटन नामक नगर में एक बड़ी सभा का अधिवेशन किया। उसमें बहुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि साउथ कारोलिना और अन्य संस्थानों में आज तक जो सम्बन्ध था वह अब नहीं रहा। इसका यह कारण बताया गया कि अब वह व्यक्ति अध्यक्ष चुना गया है जो दासत्व-प्रथा का विरोधी है और हमारा मतभेद होने के कारण हम उनसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। १८६१ ई० में सात संस्थानों ने मिलकर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। बहुत-सी सेना जमा करके वे लड़ने के लिए तैयार हो गये। भूतपूर्व अध्यक्ष के समय दक्षिण वाले बड़े-बड़े पदों पर काम करते थे, इस समय भी वे उन्हीं स्थानों पर बने हुए थे। गुप्त और प्रकट रीति से वे विद्रोहियों की सहायता करने लगे। कोष में पैसा नहीं था। ऐसी विषम स्थिति में अब्राहम लिंकन ने बहुत प्रयत्न किया कि झगड़ा टल जाय लेकिन ऐसा न हो सका। विद्रोहियों ने चार्लस्टन नगर के सम्टर नामक किले को घेर लिया और उसे जीत लिया। इसी घटना से दक्षिण और उत्तर

वालों में युद्ध आरम्भ होगया। उत्तर वालों के प्रयत्न से शीघ्र ही सेना एकत्र हो गई। अब ७५ हजार सैनिक तैयार थे। इनको लेकर लड़ाई आरम्भ की जाने वाली थी। इसी समय डग्लस के मन में एक बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। अब्राहम लिंकन के गुणों से प्रभावित होकर उसने सारी शत्रुता छोड़ दी और उसकी सहायता करने लगा। वे दोनों सच्चे मित्र बन गये। दोनों ओर की तैयारी अच्छी थी। दोनों ही बड़ी वीरता से लड़े, विजय-लक्ष्मी दक्षिण वालों को मिली और उत्तर वालों को भागना पड़ा। फिर से सेना एकत्रित की गई। कुल ६ लाख ४० हजार सैनिक एकत्र हुए। लड़ाई फिर आरम्भ हुई। इन्हीं दिनों जनवरी १८६३ ई० में उसने एक घोषणा-पत्र द्वारा यह प्रकट कर दिया कि— *"आज से सब संस्थाओं के गुलाम मुक्त हो गए। उनपर मालिकों की कुछ भी सत्ता नहीं रहेगी और वे अन्य लोगों की भांति स्वतन्त्र रहेंगे। जो व्यक्ति उनकी स्वतन्त्रता में बाधा डालेगा वह सरकार का शत्रु माना जायगा और उसे नियमानुसार दण्ड दिया जायगा।"* इस घोषणा से उसने दास-प्रथा का अन्त कर दिया। घोषणा होते ही ४० लाख गुलाम मुक्त हो गए। अब तो और भी असन्तोष फैल गया और लड़ाई अधिक जोर से होने लगी। विद्रोहियों को अब गुलामों की सहायता मिलना बन्द हो गया। दूसरी ओर वे उत्तर वालों से जा मिले और उनकी नौकरी करके सहायता करने लगे। अन्त में दक्षिण वाले परास्त हो गये और अब्राहम लिंकन का पवित्र कार्य पूरा हो गया।

अब्राहम लिंकन का बाल्यकाल बड़ी निर्धनता में व्यतीत हुआ था और अब वह सर्वोच्च पद पर पहुंच गया था। इन परस्पर विरोधी परिस्थितियों का उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। *न तो दरिद्रता ने उसे उन्नति करने में बाधा पहुंचाई और*

न इस वैभव ने उसे मदान्ध बनाया। समुद्र की भांति दोनों ही परिस्थितियों में वह शांत और अटल रहा। इस समय उसे बहुत बड़ा पद प्राप्त था किंतु वह उसी प्रकार परहित व्रत में तल्लीन रहा। अपने शासन-काल में उसने कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये, दिन-रात परिश्रम किया और सेवा-भाव से राष्ट्र के कल्याण के लिए अविरत परिश्रम किया। इस समय उसने जिस दयालुता और सेवा भाव से काम किया वह अमेरिका के इतिहास में चिरस्मरणीय है। *वह मानवता का पुजारी था। ऊंच-नीच और काले-गोरे का भेद मिटाने का उसने शक्ति भर प्रयत्न किया था। वह जितने उत्साह से गोरों से मिलता था, उतने ही उत्साह से कालों से भी मिलता था।*

अध्यक्ष-काल समाप्त होने पर जब दूसरी बार चुनाव हुआ तो इस समय भी वही अध्यक्ष चुना गया। चारों ओर उत्सव मनाये गए और फिर एक बार आनन्द की लहर फैल गई। उत्तर और दक्षिण वालों की लड़ाई इस समय लगभग खतम हो चुकी थी, किन्तु आपसी वैमनस्य का पूरी तरह अन्त नहीं हुआ था। इधर उत्सव हो रहे थे और उधर उसकी मृत्यु के लिए षड्यन्त्र रचे जा रहे थे। इन षड्यन्त्रों का किसीको पता नहीं लगा। वाशिंगटन में विजयोत्सव के उपलक्ष में कई स्थानों पर उत्सव मनाये जा रहे थे और नाटक खेले जा रहे थे। सभी जगह से उसे निमन्त्रण मिल रहे थे। सब में सम्मिलित होने के लिए तो उसके पास समय नहीं था; किन्तु कभी-कभी जनता के परितोष के लिए चला जाया करता था। १४ अप्रैल सन् १८६५ को यह बात फैल गई कि वह अमुक नाटक देखने के लिए जायगा। वह ठीक समय पर वहां पहुँच गया। खेल आरम्भ हुआ। सब लोग खेल देखकर मुग्ध हो रहे थे कि अचानक बन्दूक की आवाज सुनाई दी। देखा तो गोली अब्राहम के

शासन के पंजे से छुड़ाकर मुक्त किया और उसकी नींव इस प्रकार सुदृढ़ की कि वह आजतक दुनिया के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रों में गिना जाता है।

जन्म और बाल्य-काल

जार्ज वाशिंगटन का जन्म १७३२ ई० में उत्तरी अमेरिका के वर्जीनिया नामक प्रदेश में हुआ था। उसका पिता इंग्लैंड का निवासी था। वह उन व्यक्तियों के वंश में से था जो १६५७ ई० में इंग्लैंड छोड़कर अमेरिका में बस गए थे। उसके पास मेरीलेण्ड में बहुत-सी जमीन थी। उसने दो विवाह किये थे। वाशिंगटन दूसरी पत्नी से उत्पन्न हुआ था। बचपन में वह अपने पिता के ही पास रहता और स्कूल में साधारण शिक्षा प्राप्त की। किन्तु उसकी माँ बड़ी ही योग्य और सुशीला महिला थी। वह आदर्शवादिनी थी और सत्यता, वीरता, शील आदि गुणों पर मुग्ध थी। उसने स्वयं वाशिंगटन को शिक्षा दी। उसकी उत्कट इच्छा थी कि वह अपने पुत्र में इन्हीं गुणों को देखे। नेपोलियन की भाँति वह भी अपने पुत्र को महान कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती रहती थी और सदैव सत्यता और सच्चरित्रता की शिक्षा देती थी। माता की इस शिक्षा का ही यह परिणाम था कि उसके बाल्यकाल में एक ऐसी घटना हुई जिससे उसकी सत्यता प्रकट होती है। प्रायः बालकों से काम बिगड़ जाया करते हैं। वाशिंगटन ने भी अपनी नई कुल्हाड़ी से पिता के लगाए हुए पेड़ काट डाले। किन्तु जब पूछा गया कि किसने काटे तो उसने जो सही बात थी कह दी। बालक की इस सत्यता से पिता को कितना आनन्द हुआ होगा!

वह बड़ा ही उत्साही और कुशल था। प्रत्येक काम में अपने साथियों से आगे रहता था। एक दिन की बात है कि वह

अपने साथियों के साथ मैदान में खेल रहा था। उसकी मां ने वहां चरने के लिए दो घोड़े छोड़ दिये थे। उनमें एक तो सवारी के काम आता था और दूसरा बिलकुल नया था। वाशिंगटन के मित्रों ने घोड़ों पर सवारी करने का विचार किया। सवारी में आने वाले सीधे घोड़े पर तो एक लड़का सवार हो गया, किन्तु लाख कोशिश करने पर भी दूसरे पर कोई सवार न हो पाया। जिन-जिन बालकों ने सवार होने की कोशिश की उनमें से किसी को उसने लात मारी, किसीको पटक दिया और किसीको काट खाया। जब सब थक गए तो वाशिंगटन की बारी आई। वह सबसे छोटा था। किन्तु बड़ी तरकीब से वह उसके ऊपर सवार होगया और ऐसा चिपट कर बैठा कि हिलाये न हिलता था। घोड़ा बेतहाशा भागा, उसने काफी उछल-कूद भी की किन्तु वह न गिरा। जब वह खुद ही थककर गिर गया तो वाशिंगटन उसपर से उतरा। इस दिन से वह पक्का घुड़सवार बन गया। *स्कूल में वह सदैव प्रथम रहा। खेलने में भी वह सबसे आगे रहता। अपने साथियों का वह सरदार था।*

पदोन्नति

ग्यारह वर्ष की अवस्था में उसके पिता का देहांत हो गया। अतः स्कूल छोड़कर वह अपने सौतेले भाई लारेंस के पास माउण्टवर्नन गया। लारेन्स का विवाह लार्ड फेयरफेक्स के वंश की एक कन्या से जो कि वर्जीनिया का सबसे बड़ा धनी था, हुआ था। लार्ड फेयरफेक्स अभी इंग्लैंड से ही आए थे और अब उन्होंने यहीं रहने का निश्चय कर लिया था। वह अपने साथ एक बड़ा पुस्तकालय भी लाये थे जिससे वाशिंगटन ने काफी लाभ उठाया। वह लार्ड फेयरफेक्स के सम्पर्क में आने लगा। वह इस बालक की कुशलता से प्रभावित होने लगे।

उन्होंने सन १७७८ में जब अपनी भूमि का निरीक्षण करने के लिए अपने सर्वेयर को तथा अन्य कर्मचारियों को भेजा तो सहायक सर्वेयर बनाकर वाशिंगटन को भी उनके साथ भेजा। इस कार्य के समाप्त होते ही लार्ड फेयरफेक्स ने उसे सर्वेयर के स्थान पर नियुक्त कर दिया। दो साल के बाद वह अपने भाई लारेन्स के साथ पश्चिमी द्वीप-समूह की यात्रा करने गया। वहां उसे शीतला निकली जिससे उसके चेहरे पर ऐसे चिह्न होगए जो जीवन-पर्यन्त रहे। वह वहां से लौटा और थोड़े ही दिन बाद उसके भाई का देहान्त हो गया। भाई की केवल एक कन्या थी जिसकी जायदाद संभालने का भार वाशिंगटन पर पड़ा। कुछ समय बाद वह भी मर गई और वाशिंगटन ही उसकी जायदाद का उत्तराधिकारी होगया। अब वह धनवान व्यक्तियों में गिना जाने लगा। उसने कृषि की उन्नति के लिए काफी प्रयत्न किया। नए औजारों और तरीकों से खेती करना आरम्भ किया जो कि अभी अमेरिका में प्रचलित नहीं हुए थे। उसने नए-नए प्रयोग और सुधार करके अमेरिका के किसानों के सामने एक उदाहरण पेश किया।

१७५२ ई० में वर्जीनिया जिले की सेना के मेजर के सहायक के स्थान पर उसकी नियुक्ति हुई। एक वर्ष बाद वर्जीनिया के गवर्नर ने उसे एलची बनाकर फ्रांसीसियों के पास भेजा। बरसात के दिन थे, रास्ता बीहड़ वन में से जाता था और नदियों में बाढ़ आ रही थी। बड़ी कठिनाइयां उठाकर वह वहां पहुंचा और अपना संदेश सुना दिया। फ्रांसीसियों ने इसकी कोई परवाह नहीं की। फ्रांसीसी गवर्नर ने कहा कि होशियार हो जाओ, बरसात समाप्त होते ही तुम्हारे ऊपर आक्रमण करूंगा और तुम्हारी फौज और चौकियों को तबाह कर डालूंगा। वाशिंगटन के साथ कुछ रेड इंडियन रास्ता बताने और

उसकी रक्षा करने के लिए गए थे। फ्रांसीसियों ने इन्हें शराब पिलाकर और दावतें देकर अपनी तरफ कर लिया! वाशिंगटन ने उन्हें अपनी ओर फोड़ने को जो-जो कोशिशें कीं सब व्यर्थ गईं। अन्त में केवल दो रेड इण्डियनों को साथ लेकर वह वापस चला। जितने दिन वह वहां ठहरा उतने दिनों में उसने फ्रांसीसियों की गति-विधि, उनकी आक्रमण की तरकीब और उनकी शक्ति के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली थी। इस बार कठिनाइयां और बढ़ गई थीं। मार्ग की कठिनाई तो थी ही किन्तु पथ-प्रदर्शक रेड इण्डियन भी उसके खिलाफ हो गए थे; क्योंकि उन्हें भी फ्रांसीसियों ने गांठ लिया था। वे वाशिंगटन को मार डालने के विचार में थे। जब वे घोर जंगल में होकर जा रहे थे तो एक ने उसपर गोली चलाई। गोली उसके सिर के पास से निकल गई। इस घटना के बाद केवल एक विश्वास-पात्र व्यक्ति को साथ लेकर वह चला। चलते-चलते वे एक गहरी नदी के पास पहुँचे जहां रास्ता बंद था। इसे पार करते समय वह डूबते-डूबते बचा। इस प्रकार वह दो बार मृत्यु से बाल-बाल बच गया। वर्जीनिया के गवर्नर ने उसकी कुशलता और बहादुरी की बहुत प्रशंसा की और जनता ने भी उसका बहुत आदर किया।

युद्ध

अब दोनों ओर से युद्ध की तैयारियां होने लगीं। वाशिंगटन ने गवर्नर को सलाह दी कि पोटर्सबर्ग पेन्सिलवेनिया में किला बनाया जाय। गवर्नर ने किला बनवाना आरम्भ किया, किन्तु बनाने के पूर्व ही फ्रांसीसियों ने आक्रमण किया और उसे छीन लिया। उन्होंने उसे बनाकर उसका नाम डूकेन रखा। अंग्रेजों ने वाशिंगटन को लेफ्टीनेण्ट कर्नल बनाकर एक सेना के साथ

भेजा, किन्तु वह देर से पहुँचा। इस समय तक किला जीता जा चुका था। जब किला न बचाया जा सका तो उसने रात में एकाएक फ्रांसीसी फौज पर आक्रमण कर दिया। फ्रांसीसी फौज हार गई किन्तु उन्होंने दूसरी बार रेड इण्डियनों की फौज के साथ आक्रमण किया और वाशिंगटन को चारों ओर से घेर लिया। उसे हार माननी पड़ी किन्तु सामान और फौज के साथ वापस चले जाने का अधिकार दिया गया। इस हार के बाद अंग्रेजों ने इंग्लैण्ड से फौज मंगाई। ब्रेडक एक बड़ी फौज लेकर आया। वाशिंगटन ने पहले तो इसके साथ फ्रांसीसियों से लड़ने से इन्कार कर दिया किंतु स्वयं ब्रेडक के समझाने से तैयार हो गया। उसने समझाया कि समझ-बूझकर आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि रेड इण्डियनों की फौज किसी भी समय आक्रमण करके सारा मामला बिगाड़ सकती है। ब्रेडक को विश्वास था कि अच्छी ट्रेनिंगप्राप्त और सुसज्जित फौज के सामने रेड इण्डियनों की फौज क्या ठहर सकेगी? अतएव वह बिना समझे-बूझे आगे बढ़ता गया। जब वह किले के पास पहुँचा तो रेड इण्डियनों ने बाजू से और पीछे से आक्रमण कर के गोलियों की बौछार शुरू कर दी। सामने कोई न था। फौज बडे संकट में पड़ गई और भागने लगी। जब जनरल ब्रेडक ने अपनी फौज का यह हाल देखा तो वह स्वयं आगे बढ़ा और फौज को रोकने का प्रयत्न करने लगा। किंतु किसीने उसको पहिचान लिया और गोली मार दी। जनरल ब्रेडक घायल होकर गिर पड़ा और सदा के लिए सो गया। अब बड़ी जल्दी में वाशिंगटन को जनरल बनाया गया। उसने बड़ी बहादुरी से अपना घोड़ा बढ़ाया। उसपर भी गोलियों की बौछार हुई। उसके चार घोड़े मर गये किंतु वह ईश्वर की कृपा से बाल-बाल बच गया। लड़ाई बड़ी भयंकरता से हुई। रेड इण्डियन

और फ्रांसीसी फौज साथ-साथ लड़ रही थीं। उनकी संख्या तो कम थी किंतु वे लड़ बड़ी बहादुरी से रहे थे। उन्होंने अन्त में अंग्रेजी फौज को इस प्रकार तंग किया कि उसे भागना पड़ा और फ्रांसीसियों की विजय हुई।

इस हार से अंग्रेजों ने बड़े चुने हुए सरदार लड़ाई के लिए भेजे। लड़ाई छः साल तक और चलती रही। बहुत रुपया खर्च हुआ और दोनों ओर के कई व्यक्ति मारे गये, किन्तु अन्त में अंग्रेजों की विजय हुई और कनाडा का बहुत बड़ा प्रदेश उन्हें मिला।

विवाह के बाद

लड़ाइयों में उसका स्वास्थ्य खराब होता जा रहा था, अतएव उसने त्यागपत्र दे दिया और छः-सात वर्षों तक माउन्टबर्नन में रहा। वह लेजिस्लेटिव कौंसिल का मेम्बर भी चुना गया और उसका बड़ा मान-सम्मान हुआ। इन्हीं दिनों उसने एक धनी विधवा से विवाह कर लिया और सुख से रहने लगा।

वाशिंगटन की यह हार्दिक इच्छा थी कि अमेरिका भी यूरोपीय देशों की भांति उन्नत बने। किन्तु जब उसने इस मार्ग में अंग्रेजों के द्वारा पैदा की हुई बाधाओं को देखा तो उसे बड़ा असन्तोष हुआ। वह अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता से अप्रसन्न था। उसने सन् १७७४ ई० में ओही और पोटोमेक के बीच में नहर खुदवाने का विचार किया लेकिन 'क्वेबेक एक्ट' ने उसका रास्ता रोक दिया। इस कानून से उसे बड़ा दुःख हुआ। फिर जब 'स्टाम्प एक्ट' और 'टी एक्ट' बने तो उनसे लोगों में भी इतना असन्तोष फैला कि वे उनका विरोध करने के लिए तैयार हो गये और अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करने के लिए तैयारियां करने लगे।

स्वातन्त्र्य-युद्ध

जब उपनिवेश वालों ने १७७४ ई० में पहली बार कांग्रेस की मीटिंग की तो वह वर्जीनिया से प्रतिनिधि के रूप में वहाँ गया। यह मीटिंग फिलेडलेफिया में सात सप्ताह तक होती रही। दूसरे वर्ष कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन हुआ और वाशिंगटन अमेरिकन फौजों का कमांडर-इनचीफ बनाया गया। वाशिंगटन कई लड़ाइयों में वीरता से लड़ चुका था और उसे लड़ाई का काफी अनुभव भी था। इसीलिए उसकी इस महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्ति होने से दक्षिण वाले और न्यूयार्क निवासियों ने इसका विरोध किया। वे चाहते थे कि कमाण्डर-इन-चीफ उन लोगों में से ही किसीको बनाया जाय, किन्तु उनमें वाशिंगटन जैसा अनुभवी और बहादुर व्यक्ति नहीं था। अतएव उनका विरोध शान्त हो गया। बहुत से अमेरिका निवासियों की भांति पहिले वह भी अंग्रेजों से विद्रोह करने के पक्ष में नहीं था किन्तु अब उत्तरोत्तर बढ़ती हुई स्वेच्छाचारिता से उसका असन्तोष बढ़ रहा था। जब अमेरिकन लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता का युद्ध छेड़ दिया तो वाशिंगटन ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे जीतने का प्रयत्न किया। *अमेरिका की पूर्ण स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और एकता, ये ही उसके लक्ष्य थे, जिन्हें उसने अपने जीवनकाल में ही प्राप्त करके दिखा दिये।* इन्हें पूरा करने में उसे बहुत ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा; किन्तु वह कभी निराश नहीं हुआ। उसकी सेना को वेतन नहीं मिलता था, न उसके पास पर्याप्त हथियार ही थे। उसके पास रसद का भी पूरा प्रबन्ध नहीं था, किन्तु फिर भी वह हतोत्साह नहीं हुआ। उसका अनुशासन इतना कड़ा था कि इन कठिनाइयों के होते हुए भी उसके सैनिक

बहादुरी से लड़ते रहे।

वाशिंगटन ने किले-बंदियां आरम्भ कीं। अंग्रेजी सेना किनारे पर उतरने के थोड़े दिन बाद ही एक पत्र भेजकर यह प्रकट किया कि जो लोग आत्म-समर्पण कर देंगे उन्हें क्षमा कर दिया जायगा। उनके इस पत्र का उन्हें यह उत्तर दिया गया कि अंग्रेजों के जुल्मों का विरोध कोई पाप नहीं है, अतएव उसके लिए वे क्षमा मांगना नहीं चाहते। इस तरकीब से कोई लाभ न देखकर उन्होंने लड़ाई आरम्भ की। अंग्रेजों की एक बड़ी सेना किनारे पर उतरी और उसने रातों-रात आगे बढ़कर प्रातःकाल अमेरिकन सेना पर आक्रमण कर दिया। अमेरिकन सेना की इस आक्रमण से बड़ी क्षति हुई। उसे भागने के लिए विवश होना पड़ा किन्तु १७७६ ई० के अन्त तक वाशिंगटन ने एक सेना एकत्र कर ली और ट्रेण्टन पर आक्रमण कर दिया। बहुत-सा गोला-बारूद इस आक्रमण में वाशिंगटन के हाथ लगा। लार्ड कार्नवालिस एक बड़ी सेना के साथ इंगलैण्ड से आये। वह लड़ाई के लिए आगे बढ़े, किन्तु अमेरिकन सेना पर आक्रमण करने के पूर्व उन्होंने कुछ ठहर जाना उचित समझा। वाशिंगटन ने अपने कैम्प में प्रकाश रहने दिया और सारी सेना को रातों-रात वहां से हटाकर प्रिन्सटाउन पर आक्रमण कर दिया। इस लड़ाई में अंग्रेजों के ५०० आदमी काम आये। १७७७ का वर्ष बड़ी ही कठिनाइयों से बीता। इस वर्ष वाशिंगटन को कई बार हारना पड़ा। इससे कांग्रेस उसे कमाण्डर-इन-चीफ के पद से हटाने का विचार करने लगी, किन्तु अन्त में उसे अपने सब प्रयत्नों का पुरस्कार मिला। परिस्थिति बदली और भाग्य भी अमेरिकनों का साथ देने लगा। फ्रांसीसियों ने अमेरिकन लोगों की सहायता के लिए सेना भेजी और १७८१ ई० में कार्नवालिस यार्कटाउन में घेर

लिया गया। उसने आत्म-समर्पण कर दिया। इसके दो वर्ष के बाद उसने खजाने के कन्ट्रोलर को जो हिसाब बताया उसके अनुसार इस लड़ाई में उसने अपने व्यक्तिगत १४, ५०० पौण्ड खर्च किये थे। उसने सेना के पद से त्यागपत्र दे दिया और यह इच्छा प्रकट की कि अब वह अपने जीवन के अन्तिम दिन शान्ति के साथ व्यतीत करना चाहता है।

विजय के बाद

वह पहली बार इतना बड़ा नाम कमाकर अपने घर वापिस लौटा था। अतएव शहर में चारों ओर खुशी मनाई जा रही थी। उसका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया गया। उसकी मां इन सबसे दूर अपने घर पर बैठी हुई सूत कात रही थी। वाशिंगटन को देखकर वह बोली—"जार्ज, तुम्हें देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। तुम तो बिलकुल बदल गए।" दूसरे दिन जब अन्य लोगों ने उसकी बड़ी तारीफ की तो उसकी मां ने कहा—"मैं तो उसे बचपन से ही जानती थी कि वह एक होनहार लड़का है, इसमें आश्चर्य की क्या बात है।"

लड़ाई समाप्त हो चुकी थी और अमेरिकन अब स्वतन्त्र हो चुके थे; किन्तु इतने से ही उनकी मुसीबतों का अन्त नहीं हो गया था। इतने वर्षों की लड़ाई के कारण चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई थी। कांग्रेस पर कर्जा हो गया था। सिपाहियों को भी वेतन देना था, किन्तु दिया कहां से जाता? सभी लोगों ने यह अनुभव किया कि एक मज़बूत सरकार बनाये बिना इन कष्टों का अन्त नहीं होगा, अतएव हरएक सूबे के प्रतिनिधि शासन-विधान बनाने के लिए इकट्ठे हुए। फिलेडल्फिया के स्टेट हाउस में सभा का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। वाशिंगटन ने सभापति का कार्य किया। बड़े वाद-

विवाद के बाद विधान बना और सब सूबों ने इसे स्वीकार कर लिया। प्रेसीडेण्ट का चुनाव हुआ। उसका कार्य-काल ४ वर्ष का रखा गया था। चुनाव में बहुमत से वाशिंगटन ही सफल हुआ। इसलिए उसे एक बार फिर अपना घर छोड़ कर न्यूयार्क आना पड़ा। रास्ते में स्थान-स्थान पर उसका शानदार स्वागत हुआ। ३० अप्रैल १७८६ ई० में उसने अपने पद का कार्य संभाल लिया।

वाशिंगटन के सामने अनेक प्रश्न थे। पहला प्रश्न था कि कर्जा किस प्रकार चुकाया जाय। अलेग्जैण्डर हेमिल्टन ने इस कार्य में उसकी बड़ी मदद की। उसने बड़ी बुद्धिमानी से इस समस्या को हल किया। उसकी सलाह से यूनाइटेड बैंक की नींव डाली गई। इस बैंक के पास धीरे-धीरे बहुत पूंजी हो गई। सरकार पर लोगों का विश्वास हो गया और व्यापार व कला-कौशल की भी बहुत उन्नति हुई। दूसरी समस्या रेड-इण्डियन लोगों की थी। आबादी बढ़ने से ये लोग पश्चिम की ओर जाकर बसने लगे थे। इन लोगों को वहां के मूल-निवासी रेड-इण्डियन बहुत परेशान करते थे। वाशिंगटन ने बहुत-सी भूमि उन लोगों से रुपया देकर खरीद ली, किन्तु उनमें से कुछ लोग इसपर राजी न हुए और उन्होंने लड़ाई की धमकी दी। लड़ाई अनिवार्य-सी हो गई। बारी-बारी से तीन जनरल भेजे गए। पहले दो जनरल तो हार गए किन्तु तीसरी बार जनरल वेग के साथ जो सेना गई उसने रेड-इण्डियन लोगों को बुरी तरह हरा दिया और यह प्रश्न भी हल हो गया।

सबसे आगे

चार वर्ष के बाद जब उसका कार्यकाल समाप्त हुआ तो वह

फिर दुबारा प्रेसीडेण्ट चुना गया। इस बीच एक ऐसा दल बन गया था, जो उसका विरोधी था, किन्तु बहुमत अब भी उसके पक्ष में था। लोग उसे अमेरिका का पिता मानते थे और उस पर बहुत विश्वास रखते थे। ह्विस्की पर जब कर लगाया गया तो कुछ लोगों ने उसे देने से इन्कार कर दिया और विद्रोह करने के लिए तैयार होगए। पर वाशिंगटन ने फौज भेजकर उन्हें शान्त कर दिया। *वाशिंगटन ने दल-बन्दियों को कम करने और संगठित होकर कार्य करने के लिए लोगों को प्रेरित किया और सामूहिक प्रयत्न से अमेरिका की उन्नति के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया।* उसके इन सब प्रयत्नों से अमेरिका की बहुत उन्नति हुई।

जब तीसरी बार लोगों ने उसे ही प्रेसीडेण्ट बनाने का प्रयत्न किया तो उसने इन्कार कर दिया। वह अपना बुढ़ापा शान्ति से बिताना चाहता था। अतएव अपने घर लौट गया। सन् १७९९ ई० में सर्दी लगने से वह बीमार हो गया और इसी बीमारी से उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु से सारे देश में शोक छा गया। मरते समय उसने डाक्टर से कहा था कि वह मृत्यु से नहीं डरता। वह जानता था कि उसने बड़ी लगन से देश की सेवा की है। निष्पाप व्यक्ति के लिए भय कैसा?

उसका सारा जीवन देश की सेवा में व्यतीत हुआ। अपने बचपन में वह खेल-कूद में सबसे आगे रहता था। युवावस्था में लड़ाई के मैदान में वह सबसे आगे रहा। *जब लड़ाई समाप्त हो गई और शान्ति-स्थापना का समय आया तो उस समय भी वह सबसे आगे रहा और जबतक जीवित रहा उस समय तक और उसके बाद भी अपने देशवासियों के हृदय में सबसे आगे रहा।*

: ११ :

कमाल अतातुर्क

हमारे देश में कहावत है कि 'खोटा बेटा और खोटा पैसा वक्त पर काम आता है।' बहुधा यह देखा भी गया है कि जो लोग बचपन में स्वभाव से नटखट, उद्दंड, और उच्छृंखल दिखाई देते हैं, वे आगे चलकर ऐसे काम कर दिखाते हैं कि संसार को चकित होना पड़ता है। कमाल अतातुर्क अर्थात 'तुर्की के पिता' ग़ाज़ी मुस्तफ़ा कमाल पाशा का जीवन भी ऐसा ही एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि आगे 'बड़ा' बनने के लिए बचपन में नटखट और उद्दंड होना जरूरी है। जब कमाल स्कूल में पढ़ता था तब अपने सहपाठियों से कहा करता था, "मैं तुम लोगों की तरह नहीं हूँ; मैं कुछ बनना चाहता हूँ।" पर उस समय किसीको गुमान भी न हो सकता था कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कमाल अपने देश का भाग्य-विधाता बनेगा और 'योरोप का रोगी' कहलाने वाले तुर्की को एक जीवित राष्ट्र बना देगा।

जन्म और बाल्यकाल

कमाल पाशा का जन्म १८८१ ई० में यूनान के सालोनिका नामक कस्बे में हुआ। इसकी माता का नाम ज़ुबैदा और पिता का अलीरज़ा था। कमाल का बचपन का नाम मुस्तफ़ा था। अलीरज़ा सरकारी दफ्तर में बाबू का काम करता था। यद्यपि वह गरीब था पर उसमें आत्मगौरव की मात्रा बहुत अधिक थी। ज़ुबैदा पढ़ी-लिखी बिल्कुल न थी, पर थी बहुत चतुर और तेज-मिजाजन। धर्म और देशभक्ति की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी थी। मुस्तफ़ा अपने

माता-पिता का एकलौता पुत्र था। इसलिए इसका बचपन माता के लाड़-प्यार में बीता।

जब यह नौ वर्ष का था, तो अलीरज़ा का देहांत हो गया और ज़ुबैदा को अपने भाई की शरण में जाना पड़ा। ग्यारह वर्ष की उम्र में मुस्तफ़ा को सालोनिका के एक स्कूल में भर्ती करा दिया गया, पर वहां उसने बड़ी ही उच्छृंखलता का व्यवहार किया। यहां तक कि एक दिन वह अपने अध्यापक को मारपीट कर स्कूल से भाग आया।

शिक्षा

इसके बाद ज़ुबैदा ने उसे अलीरज़ा के एक मित्र की सहायता से सालोनिका के सैनिक स्कूल में भर्ती करा दिया। यहां उसने बहुत जल्दी उन्नति की और स्कूल के सब नवयुवकों पर रोब जमा लिया। स्कूल के एक अध्यापक कप्तान मुस्तफ़ा की उसपर विशेष कृपा थी। इस अध्यापक ने मुस्तफ़ा का नाम बदलकर कमाल रख दिया और तब से यह मुस्तफ़ा कमाल कहलाने लगा।

सत्रह वर्ष की आयु में वह मोनास्टिर के सैनिक स्कूल में भेजा गया और दो वर्ष में वहां से सब-लेफ्टिनेण्ट होकर कुस्तुन्तुनिया के इम्पीरियल स्टाफ़ कालेज में दाखिल हो गया। यहां आकर कुछ दिन तक तो वह जुआ, शराब और व्यभिचार के अड्डों में फंस गया, परन्तु यहां उसका सम्पर्क क्रांतिकारियों से हुआ जिससे उसके जीवन की धारा ही बदल गई।

क्रांतिकारी दल "वतन" और गिरफ्तारी

स्टाफ़ कालेज के लगभग सारे नवयुवक अफ़सर क्रांतिकारी थे। उन्होंने 'वतन' नाम का एक क्रांतिकारी संगठन बना

रखा था जिसका उद्देश्य यह था कि तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद के स्वेच्छाचारी और निर्दय शासन का अन्त करके तुर्की को विदेशियों के षड्यन्त्रों से छुड़ाया जाय। कमाल तुरन्त इस क्रांतिकारी दल का नेता बन गया। परन्तु सुल्तान को इसका पता लग गया। उसने सारे क्रांतिकारियों को गिरफ्तार करके इस्तम्बोल के लाल कैदखाने में बन्द कर दिया। परन्तु वह डरा कि कहीं इन नवयुवक सैनिक अफ़सरों की हत्या से देश में विद्रोह न खड़ा हो जाय। अतः उसने इन सबको माफ़ी देने की घोषणा कर दी और 'वतन' को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने का आदेश दिया।

"एकता और उन्नति" कमेटी

१६०८ ई० में कमाल तीसरी सेना का अफसर बनकर सालोनिका में आगया जो उस समय विद्रोह का केन्द्र बन रहा था। लगभग दो वर्ष पहले से "एकता और उन्नति" नामक एक क्रांतिकारी संगठन जोर पकड़ रहा था, जिसका नेता अनवर था। जब कमाल इस संगठन में शामिल हुआ तो उसे तुरन्त यह अनुभव होने लगा कि इन आदर्श-वादियों से उसकी नहीं पटेगी।

अनवर से मतभेद

लेकिन अनवर का सितारा इस समय बुलन्दी पर था। उसने कुस्तुन्तुनिया पर चढ़ाई करके तुर्की के सुल्तान अब्दुल-हमीद को शासन में सुधारों की घोषणा करने के लिए विवश कर दिया। इधर तुर्की के पड़ोसी योरपीय राष्ट्रों ने तुर्की को नष्ट करने के लिए जो कार्यवाहियां कीं उन सबका भी इसने प्रतिकार कर दिया और सुल्तान अब्दुल हमीद को गद्दी से

उतारकर उसके चचेरे भाई को नाममात्र का सुल्तान बना दिया। इस तरह तुर्की की वास्तविक राज-सत्ता एक प्रकार से "एकता और उन्नति" कमेटी के हाथों में आ गई।

इन विजयों से अनवर का साहस इतना बढ़ गया कि वह सारे तुर्की-भाषा-भाषी राष्ट्रों को संगठित कर एक विशाल उस्मानी साम्राज्य स्थापित करने के स्वप्न देखने लगा। अतः उसने सेना का पुनःसंगठन करने के लिए लीमान फान सांडर्स नामक एक जर्मन सेनापति को बुलाया। कमाल ने अनवर के इस कार्य का घोर विरोध किया और उसे तुर्की के हित में अनिष्टकारी बतलाया। इसपर अनवर ने नाराज होकर उसे सोफिया भेज दिया।

कमाल का उत्थान

लेकिन कुछ ही दिन बाद योरोप का पहला महायुद्ध शुरू होगया और इसके साथ ही कमाल के भाग्य ने भी पलटा खाया। इधर तो १९१५ ई० में रूसी सेना के मुकाबले में काकेशस के हिमाच्छादित पहाड़ों में अनवर की तुर्की सेना के तीन चौथाई से भी अधिक सिपाही ठंड के मारे खेत रहे, उधर कमाल ने एक बड़ी शानदार विजय प्राप्त की। उसने अंग्रेजों के कुस्तुन्तुनिया और दर्रे दानियाल पर कब्जा करने के प्रयत्न को विफल कर दिया और गैलीपोली के प्रायद्वीप में उतारी गई अंग्रेजी फौज को हारकर वापस लौटने के लिए विवश कर दिया।

यह विजय प्राप्त करके कमाल जब कुस्तुन्तुनिया वापस आया तो उसका बड़ा स्वागत किया गया। इसपर अनवर ने क्रोधित होकर उसे काकेशस के रूसी मोर्चे पर भेजा, जहां वह स्वयं असफल रहा था और जहां रूसी फौजों के सामने तुर्की

की पराजय साफ नजर आ रही थी। परन्तु कमाल की भाग्य-लक्ष्मी ने यहां फिर उसका साथ दिया। रूस में १६१७ ई० की राज्य-क्रांति के फलस्वरूप रूसी फौजों में गड़बड़ फैल गई और कमाल की विजय का मार्ग साफ हो गया।

मित्र-राष्ट्रों से टक्कर

कमाल की बढ़ती हुई लोकप्रियता अनवर को भला कब सहन हो सकती थी। उसने कमाल को जनरल लीमान के मातहत सीरिया के मोर्चे पर अंग्रेजी फौजों का मुकाबला करने के लिए भेजा। कमाल ने उनको रोकने का बहुत प्रयत्न किया, पर १६ अगस्त १६१८ ई० को अंग्रेजी फौजों ने तुर्की को पराजित करके कुस्तुन्तुनिया पर धावा बोल दिया। महायुद्ध के समाप्त होते-होते कुस्तुन्तुनिया पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया और उन्होंने सुल्तान अब्दुल हमीद के भतीजे वाहिद्दीन को तुर्की का सुल्तान मान लिया। इधर अनवर देश छोड़कर भाग गया और और उसकी 'एकता और उन्नति' कमेटी की इति हो गई।

महायुद्ध के समाप्त होते ही कमाल ने तुर्की को मित्र-राष्ट्रों के पंजे से छुड़ाने के लिए मित्र-राष्ट्रों के विरोध में एक देश-व्यापी आंदोलन चलाया। साथ ही उसने अंगोरा में एक राष्ट्रीय सरकार स्थापित करके सुल्तान की इंग्लैंड-रक्षित कमजोर सरकार को चुनौती दे दी।

कमाल का इन कार्रवाइयों से मित्र-राष्ट्रों का ध्यान तुर्की की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने १६२० ई० में तुर्की के लिए शांति की शर्तों का मसविदा प्रकाशित कर दिया। ये शर्तें इतनी कठोर थीं कि सारे संसार के मुसलमानों में विरोध की लहर दौड़ गई। भारत में भी खिलाफत के आंदोलन द्वारा इसका कड़ा विरोध किया गया। कमाल तुरन्त एक सेना तैयार करके

कुस्तुन्तुनिया की ओर चल पड़ा किन्तु मित्र-राष्ट्रों की सहायता से तथा अपना साम्राज्य स्थापित करने के प्रलोभन से यूनानियों ने तुर्की के सारे योरोपीय भाग पर अधिकार जमा लिया। अंगोरा-स्थित कमाल को हराने के लिए उन्होंने स्मर्ना पर एक बड़ी फौज उतारी, जिसने अंगोरा से कुछ ही दूर इस्का शहर के पास पड़ाव डाल दिया।

अद्भुत सैनिक प्रतिभा

कमाल के पास न तो तालीम पाई हुई काफी फौज थी, न लड़ाई का सामान और न रसद। बड़ी विकट और संकटापन्न स्थिति थी, पर वह तनिक भी विचलित न हुआ। हानि-पर-हानि सहता हुआ भी वह आगे बढ़ती हुई यूनानी फौजों का मुकाबला करता चला गया और अन्त में उसने दो सौ मील पीछे हट कर सकरिया नदी के पीछे अपनी अन्तिम रक्षा-पंक्ति बनाई।

२४ अगस्त १९२१ ई० को यूनानियों और तुर्कों के बीच जो भयंकर और लोमहर्षक युद्ध हुआ वह तुर्की के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस युद्ध में ईसाइयत और इस्लाम की पुरानी धार्मिक शत्रुता एक-दूसरे से बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर जान पर खेल रही थी। कमाल के अद्भुत सैन्य-संचालन के सामने यूनान की सुसज्जित सेना की एक न चली और उसे पीछे हटना पड़ा।

जब इस विजय-लक्ष्मी के साथ कमाल अंगोरा लौटा तो चारों ओर से उसे बधाइयां मिलने लगीं। उसके देश-वासियों ने उसे ग़ाज़ी की उपाधि से विभूषित किया। लेकिन ग़ाज़ी मुस्तफ़ा कमाल पाशा जानता था कि जबतक वह यूनानियों को वापस समुद्र में न ढकेल दे तबतक वह निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकता। लगभग एक साल की तैयारी के बाद, २६ अगस्त

१९२२ ई० को उसने अपनी सेना यूनानियों के सामने लाकर खड़ी कर दी और उसे आज्ञा दी—"आगे बढ़े चलो ! तुम्हारा लक्ष्य भूमध्यसागर है।" तुर्कों के जोश और उत्साह के सामने यूनानियों के दांत खट्टे हो गए और उनकी फौज तितर-बितर होकर समुद्र की ओर भाग निकली। स्मर्ना पर फिर कमाल का अधिकार हो गया। फिर फ्रांस की मध्यस्थता से सन्धि का संदेश आ गया और मुदानिया की कांफ्रेंस में मित्र-राष्ट्रों ने कमाल की लगभग सारी शर्तें स्वीकार कर लीं। तुर्की फिर एक स्वतंत्र और सत्ताधारी राष्ट्र बन गया।

कमाल तुर्की का डिक्टेटर बना

अब कमाल ने निकम्मे वाहिद्दीन से अधिकार छीनने के लिए एक राजनैतिक चाल खेली। उसने असेम्बली में बड़ी चालाकी से विरोधियों पर आंतक जमाकर तुर्की की बादशाहत को समाप्त करने का प्रस्ताव पास करा लिया और उसके कुछ ही दिन बाद कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करके वाहिद्दीन को गद्दी से उतार दिया और उसकी जगह अब्दुल मजीद को खलीफा* बनाया।

अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए कमाल ने 'लोक-दल' के नाम से एक राजनैतिक संगठन स्थापित किया। दल का संगठन पूरा होते ही कमाल ने असेम्बली में फिर एक चाल खेली। उसने ऐसी तरकीब की कि जिस दल के हाथ में शासनाधिकार था उसे इस्तीफा देना पड़ा और बाद में आपसी मतभेद के कारण कोई सरकार ही नहीं बन सकी। ऐसी डांवा-डोल स्थिति में एक दिन लोक-दल के एक सदस्य कमालुद्दीन ने असेम्बली में प्रस्ताव रख दिया कि कमाल से सरकार बनाने

*तुर्की का सुल्तान इस्लाम का खलीफ़ा माना जाता था।

के लिए कहा जाय। इसपर सब लोग सहमत हो गए और कमाल को बुलाया गया। उसने आते ही यह घोषणा की कि वह एक ही शर्त पर शासनाधिकार सम्भालने को तैयार हो सकता है। वह यह कि तुर्की को प्रजातन्त्र राष्ट्र बना दिया जाय और वह स्वयं उसका प्रथम प्रेसीडेण्ट हो। असेम्बली के लोग इतने दिन के झमेलों से तंग आ चुके थे और उन्हें कोई मार्ग नज़र नहीं आ रहा था। अतः उन्होंने कमाल के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। प्रधान सेनापति तो वह पहले ही से था, अब प्रेसीडेण्ट बन जाने पर वह तुर्की का एक सर्वाधिकारी नेता यानी डिक्टेटर हो गया।

तुर्की का पुनरुद्धार

अधिकार और शक्ति दोनों हाथ में आ जाने पर कमाल ने तुर्की के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। *उसे अनुभव हुआ कि जबतक तुर्की में से मज़हबी रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों को हटाया न जायगा तबतक तुर्की आधुनिक सभ्य राष्ट्रों की गिनती में न आ सकेगा और उसकी स्वतंत्रता को हमेशा ख़तरा बना रहेगा।* इस *मज़हबी कट्टरता को हटाने का यही उपाय था कि मज़हब को राजनीति से बिलकुल पृथक कर दिया जाय।* इससे पहले ही उसने तुर्की स्त्रियों का परदा तोड़ दिया था और स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित नाच जारी कर दिए थे। अब उसने इस्लाम की रूढ़ियों के विरुद्ध प्रचार शुरू किया। इससे देश के सारे मुल्ला और दरवेश उसके विरोधी हो गए और उसे इस्लाम का शत्रु बतलाकर जनता को भड़काने लगे। इसका प्रतिकार करने के लिए कमाल ने ख़लीफ़ा पर देश-द्रोह का आरोप लगाया और यह कहा कि विरोधी लोग अंग्रेजों के एजेन्ट हैं जो देश को उनके हाथ बेच देना चाहते हैं। कमाल के प्रचार से जनता फिर

उसके पक्ष में हो गई और सेना भी उसका साथ देने को तैयार हो गई।

ख़िलाफ़त का अन्त

१६२४ ई० में उसने पार्लमेण्ट में बिल पेश किया कि ख़िलाफ़त यानी ख़लीफ़ा की गद्दी का सदा के लिए अन्त कर दिया जाय। पार्लमेण्ट के बहुत-से सदस्यों ने इसका विरोध किया ;पर कमाल की धमकी से सब चुप हो गए और बिल निर्विरोध पास हो गया। उसी रात इस्तम्बोल (कमाल ने कुस्तुन्तुनिया का नाम बदलकर इस्तम्बोल और अंगोरा का अंकारा कर दिया और अंकारा को राजधानी बनाया) के गवर्नर के पास आज्ञापत्र भेज दिया गया कि ख़लीफ़ा को गद्दी से उतार कर तुर्की से बाहर निकाल दिया जाय। बेचारा अब्दुल मजीद चुपचाप स्विटज़रलैंड को लाद दिया गया और इस तरह तुर्की में ख़िलाफ़त का बिलकुल अन्त हो गया।

धार्मिक और राजनैतिक सुधार

तुर्की को स्वतंत्र राष्ट्र बनाकर कमाल ने सारी शक्ति अपने हाथ में तो लेली पर अभीतक तुर्कों में राष्ट्रीयता के भाव जागृत नहीं हो पाये थे। अतः कमाल ने उनकी सारी विचार-धारा को ही बदल डालने का निश्चय कर लिया। उसने सब पुरानी रूढ़ियों के विरुद्ध जिहाद बोल दिया और तुर्की के रीति-रिवाज, वस्त्र, आचार-व्यवहार, इत्यादि सबको नियन्त्रित करना आरम्भ कर दिया। सबसे पहले उसने यह ऐलान किया कि लाल तुर्की टोपी गुलामी की निशानी है, इसलिए इसे छोड़कर सब तुर्क लोग टोप पहनें। जब लोगों ने उसकी बात न मानी तो उसने तुर्की टोपी लगाना एक जुर्म घोषित कर दिया और इस

आज्ञा का उल्लंघन करने वालों को पकड़-पकड़ कर जेल में डलवा दिया। इसके विरोध में तुर्की में जगह्-जगह् दंगे होने लगे, पर कमाल ने कुछ परवाह् न की और विरोधियों को दंड देने के लिए फौजें भेज दीं। लोगों के सिरों पर से तुर्की टोपियां उतार-उतार कर फेंक दी गईं और कितने ही कट्टर-पन्थियों को फांसियां दे दी गईं। नतीजा यह् हुआ कि तुर्की टोपी का नाम-निशान भी बाकी न रहा और टोपों की इतनी मांग हुई कि कबाड़ियों ने फटे-पुराने टोपों के खूब दाम खड़े किये। आतंक यहां तक फैला कि मर्दाने टोपों के अभाव में लोग जनाने टोप ही पहनकर निकलने लगे।

इसके बाद उसके पुराने इस्लामी कानूनों के स्थान पर योरप के राष्ट्रों की तरह के नये क़ानून जारी किये, बहुविवाह् और स्त्रियों को घरों में बन्द रखने की प्रथाओं को बन्द किया और हर बालिग़ स्त्री-पुरुष को वोट का अधिकार दिया। उसने मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत और नाच का प्रचार किया, जिन्हें इस्लाम में शरिअत के ख़िलाफ़ समझा जाता था।

तुर्की भाषा का प्रचार

भाषा भी देश के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाने का बड़ा साधन है। अतः कमाल ने तुर्की भाषा का भी सुधार किया। उसने तुर्की भाषा में से अरबी और फारसी के शब्दों को छंटवा कर अलगकर दिया। फ़ारसी लिपि को हटाकर उसके स्थान पर रोमन लिपि को जारी किया। यहां तक कि क़ुरान शरीफ़ का अनुवाद भी तुर्की भाषा में करा डाला और नमाज़ उसी भाषा में पढ़ी जाने लगी। मतलब यह कि उसने तुर्की में अपने देश की प्रत्येक वस्तु के लिए गौरव और स्वाभिमान उत्पन्न कर दिया। इसके अलावा कमाल ने और भी अपनी दृष्टि से कितने

ही छोटे-मोटे सामाजिक तथा राजनैतिक सुधार किये। उसने सरकारी नौकरियों का ढंग ठीक किया और सेना का पुनः संगठन करके उसे खूब सुसज्जित और कार्यकुशल बना दिया।

इस तरह थोड़े ही समय में तुर्की की कायापलट करके कमाल ने नवम्बर १६३८ ई० में मानव-लीला संवरण की। उसके कारण तुर्की का एक नया ही जन्म हुआ। इसलिए उसे 'अतातुर्क' अर्थात् 'तुर्की के पिता' की उपाधि दी गई।

जीवन पर एक दृष्टि

कमाल का जीवन विद्रोह और संघर्ष की जीती-जागती कहानी है। बचपन में उसने माता-पिता और शिक्षकों के अंकुश से विद्रोह किया। युवावस्था में निरंकुश शासन से विद्रोह किया और अन्तिम अवस्था में धर्मान्धता और रूढ़िवाद से। शारीरिक व्याधियों के साथ तो उसका संघर्ष जीवन भर चलता रहा और कहना चाहिए कि उसका सारा जीवन युद्ध में ही बीता। जब उसने तुर्की के स्वतन्त्रता युद्ध से मुक्ति पाई तो धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वासों के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। सौभाग्य से उसे सब युद्धों में सफलता ही मिली।

कमाल जैसी बहुमुखी-प्रतिभा वाले महापुरुष संसार के इतिहास में इने-गिने ही मिलेंगे। जहां एक ओर उसमें सेनासंचालन की अद्भुत शक्ति थी वहां वह एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। साथ ही वह धार्मिक और सामाजिक सुधारक भी पहले दर्जे का सिद्ध हुआ, यद्यपि यह सुधार उसने तलवार के बल पर किये। दर्रे दानियाल से अंग्रेजी फौजों को हटाने में उसने अपने जर्मन सेनापति लीमान की सलाह के विरुद्ध जो सफलता प्राप्त की वह उसकी असाधारण सैनिक सूझ की परिचायक है। योरोपीय राष्ट्रों के योरप के नकशे से तुर्की का निशान मिटा देने के

इरादे को कमाल ने जिस तरह असफल कर दिया वह उसकी राजनैतिक दूरदर्शिता का द्योतक है और तुर्की को एक आधुनिक राष्ट्र बना देना उसकी सुधारक प्रकृति का ज्वलन्त उदाहरण है।

गुण-दोष-विवेचन

तुलसीदासजी ने रामायण में एक स्थान पर कहा है—

"जड़चेतन गुनदोषमय विस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार ।।"

वैसे तो किसीके भी चरित्र की आलोचना करते समय हमें तुलसीदासजी की यह उक्ति ध्यान में रखनी चाहिए, पर कमाल के चरित्र की विवेचना करते समय तो विशेष तौर पर। क्योंकि व्यक्तिगत जीवन में कमाल भारतीय दृष्टि से दुराचारी कहा जा सकता है। वह जुआ खेलता था, शराब खूब पीता था और व्यभिचारी भी था। स्त्रियों को वह केवल उपभोग की वस्तु समझता था। उसके जीवन में दो स्त्रियों ने महत्त्वपूर्ण पार्ट खेला। फिकरिए नाम की युवती उससे प्रेम करती थी पर अन्त में उसने निराश होकर आत्म-हत्या कर ली। लतीफा से कमाल का प्रेम हुआ और दोनों का विवाह भी हो गया। पर एकरस होकर रहना कमाल की प्रकृति में ही नहीं था। इन सब दुर्बलताओं के होते हुए भी कमाल का जो जाज्वल्यमान सार्वजनिक चित्र हमारे सामने आता है उसीपर हमारी दृष्टि रहनी चाहिए और वही हमारे काम की वस्तु हो सकती है। फिर भी किसीके दोषों और अवगुणों से तो हम यही शिक्षा लें कि ईश्वर हमें इनसे बचावे। *कमाल के चरित्र में खूबी यह है कि उसने इन व्यसनों को कभी अपने ऊपर हावी होने और कर्तव्य-मार्ग से अपने को विचलित होने नहीं दिया।*

कमाल की जीवट, दृढ़ संकल्प और आत्म-शक्ति का प्रमाण इस बात से मिलता है कि उसके शरीर में अनेक विषम व्याधियों के रहते हुए भी वह मौत से लड़ता रहा और शारीरिक कष्टों की उसने रत्ती भर भी परवाह न की।

शत्रुओं के प्रति कमाल का व्यवहार बड़ा ही निर्दय और कठोर रहा। उसने अपने विरोधियों को सदा मौत के घाट उतार कर चाणक्य के इस उपदेश का अनुकरण किया, "अग्नि को और बैरी को निःशेष ही कर देना चाहिए।"

: १२ :

आर्किमिदीज़

आज से दो हज़ार वर्ष से भी पहले की बात है। एक दिन साइराक्यूज़ नगर के निवासियों ने चकित होकर देखा कि एक नंग-धड़ंग मनुष्य "मिल गया" "मिल गया" चिल्लाता हुआ बीच बाज़ार दौड़ा चला जा रहा है। लोगों ने समझा, कोई पागल होगा परन्तु जब उन्हें पता लगा कि यह प्रसिद्ध गणितज्ञ आर्किमिदीज़ था, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

आर्किमिदीज़ के क्षणिक पागलपन की यह कथा संसार के इतिहास में निराली है। इस घटना से सिद्ध होता है कि इस प्राचीन वैज्ञानिक का मस्तिष्क जब किसी समस्या के हल करने में लग जाता था तो उसे तनबदन की भी सुध नहीं रहती थी यहां तक कि यही तल्लीनता अन्त में उसकी मृत्यु का भी कारण बनी।

जीवनकथा

आर्किमिदीज़ का पिता फिडियस यूनान का रहने वाला था और खगोल-विद्या का पंडित था। वह इटली के दक्षिण-वर्ती द्वीप सिसिली के साइराक्यूस नगर में रहता था। यहीं लगभग बाईस सौ वर्ष पूर्व आर्किमिदीज़ का जन्म हुआ था।

इतने प्राचीन समय के धुंधले इतिहास में मुख्य घटनाओं के सिवा छोटी-मोटी बातों का पता लगाना असम्भव है। अतः आर्किमिदीज़ के व्यक्तिगत जीवन के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। ईसा की प्रथम शताब्दी में प्लूटार्क द्वारा रचित जीवनियों से ही कुछ हाल मालूम होता है।

आर्किमिदीज़ ने मिस्र देश के सिकन्दरिया नगर में शिक्षा पाई और युवावस्था तक वहीं रहा। इसके बाद वह साइराक्यूस लौट आया। वह साइराक्यूस के राजा हीरो का मित्र था; या यों कहना चाहिए कि उसकी सभा का एक रत्न था।

आर्किमिदीज़ का सिद्धान्त

विज्ञान की पुस्तकों में आर्किमिदीज़ का सिद्धांत एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वैज्ञानिक महत्त्व के अलावा इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं है, क्योंकि बाजार में नंगा दौड़ने की घटना का इसीके साथ सम्बन्ध है।

कहते हैं कि हीरो का ताज जब बनकर आया तो उसे संदेह हुआ कि सुनारों ने उसके सोने में कुछ मिलावट कर दी है। आर्किमिदीज़ तो उसकी सभा में था ही, और उसकी असाधारण प्रतिभा के प्रमाण भी अबतक काफी मिल चुके थे, अतः उसीको यह काम सौंपा गया कि ताज के सोने में मिलावट का पता लगावे।

उस ज़माने में कदाचित कसौटियां न रही होंगी, या सम्भव है हीरो ने यह जानना चाहा हो कि मिलावट की ठीक तोल कितनी है। वैसे तो आज आर्किमिदीज़ का सिद्धांत पुस्तकों में लिखा रहने पर भी हरेक व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि किसी धातु में मिलावट है या नहीं। इसलिए उस प्राचीन काल में जब विज्ञान के कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं थे, यदि आर्किमिदीज़ को इस समस्या पर रातें गुजारनी पड़ीं हों तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। आठ पहर चौंसठ घड़ी यही समस्या उसके मस्तिष्क में चक्कर काटती रही होगी।

"मिल गया"--"मिल गया"

एक दिन इसी विचार में मग्न आर्किमिदीज़ सार्वजनिक हम्माम में स्नान करने गया। वह कपड़े उतारकर भरे हुए हौज़ में उतरा कि हौज़ का कुछ पानी बाहर निकल गया। बस उसके उपजाऊ मस्तिष्क ने तुरंत इस तथ्य को पकड़ लिया और वह "यूरेका" (मिल गया) कहता हुआ, नंगा ही घर की ओर दौड़ चला। उसके प्रसिद्ध सिद्धांत की जन्मकथा यहीं से आरम्भ होती है।

सिद्धांत की व्याख्या

आर्किमिदीज़ का सिद्धांत यह बतलाता है कि कोई वस्तु पानी में डुबोई जाती है तो एक तो बरतन का पानी कुछ ऊपर उठ जाता है और दूसरे उस वस्तु का भार कुछ कम प्रतीत होता है। इन दोनों में यह सम्बन्ध है कि वस्तु का भार उतना ही कम होता है जितना पानी ऊपर उठता है। पानी और पानी की तरह सारे तरल पदार्थ वस्तुओं को ऊपर उछालते हैं, इसलिए उनमें डालने पर वस्तुओं का भार कम मालूम पड़ता

है। तरल पदार्थों की यह उछाल वस्तु के फैलाव पर निर्भर होती है। अगर वस्तु खूब फैली हुई हो तो उसपर पानी की उछाल अधिक हो जाती है और वह तैरती रहती है। उदाहरण के लिए लोहे का टुकड़ा तो पानी में डूब जाता है पर उसे फैलाकर नाव के आकार का बना दिया जाय तो वह तैरने लगता है। जो वस्तुएं हलकी होती हैं, उनका फैलाव भारी वस्तुओं से अधिक होता है।

सोने में मिलावट

सोना दो-एक दुष्प्राप्य धातुओं के सिवा सबसे भारी वस्तु है। इसलिए दूसरी हलकी धातुओं की अपेक्षा इसपर पानी की उछाल कम होती है। अर्थात् अगर एक ही तोल के सोने और तांबे के टुकड़े पानी में डाले जांय तो तांबे के टुकड़े पर पानी की उछाल अधिक होगी। इस तरह पानी में तोलने पर सोने और तांबे का भेद स्पष्ट हो जाता है। यदि सोने में मिलावट हो तो मिली हुई वस्तु पर भी पानी की उछाल असली सोने से अधिक होती है।

मान लीजिए हमें अपने सोने के बटनों की परीक्षा करनी है। पहले तो हम बटनों को कांटे में तोलकर उनका वज़न मालूम करेंगे। फिर उनको एक डोरे में बांधकर कांटे के पलड़े से लटका देंगे और पानी का गिलास पलड़े के नीचे इस तरह से रखेंगे कि बटन पानी में डूबे रहें। अब पानी में लटके हुए बटनों को तोल लेंगे जिससे पता लग जायगा कि कितना वज़न कम हुआ। इसके पश्चात् हम बटनों की तोल के बराबर असली सोने का टुकड़ा लेकर उसे भी पानी में तोलेंगे। अगर इसका भी वज़न उतना ही कम होता है तो बटन असली सोने के हैं, वरना उनमें मिलावट है। हिसाब लगाकर यह भी

बताया जा सकता है कि इस मिलावट का परिमाण क्या है। परन्तु यह प्रयोग केवल ठोस वस्तुओं पर ही किया जा सकता है।

(आर्किमिदीज ने इसी ढंग से हिसाब लगाकर हीरो के ताज की परीक्षा की थी।)

यान्त्रिक आविष्कार

आर्किमिदीज़ के यान्त्रिक आविष्कार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनमें यन्त्रशास्त्र के वे सिद्धांत निहित हैं जिनके प्रयोग से आधुनिक युग की बड़ी-बड़ी मशीनें बनी हैं। मशीन का सरलतम रूप "लीवर" या बोझा सरकाने की हलवानी माना गया है। इसके सिद्धांत का तात्विक विवेचन और व्यावहारिक उपयोग सबसे पहले आर्किमिदीज़ ने ही किया, ऐसा माना जा सकता है। इसीके आधार पर उसने बड़े-बड़े बोझों को उठाने और सरकाने वाली घिर्रियां बनाई, जिनका आधुनिक रूप हमें क्रेन मशीन में देखने को मिलता है।

हीरो के बड़े जहाज के पेंदे में भर जाने वाले पानी को उलीचने के लिए आर्किमिदीज़ ने एक यन्त्र बनाया था जो 'आर्किमिदीज़ स्क्रू' के नाम से प्रसिद्ध है। यह यन्त्र लम्बे ढोल की तरह होता है, जिसके भीतर चौड़ी चूड़ियों वाला एक पेचनुमा डंडा लगा रहता है। ढोल का नीचे का सिरा पानी में डुबाकर डंडे को घुमाने से पानी एक चूड़ी से दूसरी चूड़ी पर चढ़ता चला जाता है। आजकल नाज के गोदामों में नाज को ऊपर चढ़ाने के लिए इसी प्रकार के यन्त्र का उपयोग किया जाता है।

साइराक्यूज़ का घेरा

उस समय भूमध्यसागर के तटवर्ती यूनान इत्यादि देश

अनेक छोटे-छोटे जातीय-राज्यों में विभक्त थे और इनमें परस्पर युद्ध हुआ करते थे। ऐसे समय में हीरो ने बड़ी दूर-दर्शिता का काम किया। उसने आर्किमिदीज़ से रक्षात्मक और आक्रमणकारी दोनों प्रकार के युद्ध के लिए यांत्रिक साधन तैयार करने की प्रार्थना की। यद्यपि आर्किमिदीज़ का सारा समय गणित-शास्त्र की गवेषणाओं में ही व्यतीत होता था और विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगों में उसे बिल्कुल रुचि न थी परन्तु अपने देश के हितार्थ उसे रणक्षेत्र में उतरना पड़ा। अतः जब रोमन सेनापति मार्सिलस ने साइराक्यूज़ पर चढ़ाई की तो उसका स्वागत करने के लिए सिसिली के तट पर आर्किमिदीज़ के निर्माण किये हुए अनेक भीमकाय यन्त्र पहले से ही तैयार खड़े थे। कुछ यंत्र लकड़ी की बड़ी-बड़ी सोटें उछाल-उछाल कर इस जोर से फेंकते थे कि जिस जहाज़ पर वे गिरतीं वह लड़खड़ाकर समुद्र की तह में चला जाता। कुछ यंत्रों में से बड़े-बड़े आंकड़े निकलकर मार्सिलस के जहाज़ों को ऊपर उठा-उठाकर फेंक देते या उन्हें तेज़ी से घसीटकर किनारे पर टकरा देते। आर्किमिदीज़ के यन्त्रों ने मार्सिलस के कुशल-से-कुशल इंजीनीयरों को चकरा दिया और उनकी सारी तरकीबों को व्यर्थ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सारी रोमन सेना पर आर्किमिदीज़ का आतंक छा गया और मार्सिलस को घबरा-कर साइराक्यूज़ का घेरा उठाना पड़ा। अब उसने दूर से ही सिसिली द्वीप की नाकेबंदी करके रसद इत्यादि का जाना रोक दिया।

साइराक्यूज़ का पतन

आर्किमिदीज़ के यन्त्र-कौशल ने तीन साल तक मार्सिलस को साइराक्यूज़ के पास न फटकने दिया। परन्तु अन्त में

मार्सिलस ने युद्ध-कौशल के बजाय धोखेबाजी का सहारा लिया और साइराक्यूज़ पर विजय प्राप्त कर ली।

आर्किमिदीज़ की मृत्यु

मार्सिलस ने साइराक्यूज़ में पदार्पण करते ही आर्किमिदीज़ से मिलने की इच्छा प्रकट की। यद्यपि इस अकेले व्यक्ति ने अपनी वैज्ञानिक बुद्धि से तीन साल तक मार्सिलस को छकाया था, परन्तु मालूम होता है कि रोमन सेनापति में गुणग्राहकता की प्रचुर-मात्रा थी। वह इस असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति का सम्मान करना चाहता था। परन्तु जो उद्दंड सैनिक आर्किमिदीज़ को लिवाने भेजा गया उसे मार्सिलस की इस आन्तरिक-भावना का ज्ञान न था। उसकी दृष्टि में तो वह एक घोर दंडनीय अपराधी था। उसके लिए तो यह आज्ञा ही सब कुछ थी कि 'आर्किमिदीज़ को बुला लाओ'।

जिस समय मार्सिलस का यह हरकारा आर्किमिदीज़ के यहां पहुंचा उस समय यह महान् गणितज्ञ युद्ध के परिणाम से बिलकुल अपरिचित और उदासीन, गणित की एक उपपत्ति को सिद्ध करने में तल्लीन था। सैनिक ने अपनी फौजी आज्ञा सुनाई—"सेनापति ने तुमको बुलाया है"। "कौन सेनापति और कैसा बुलावा?" अपनी धुन में मस्त आर्किमिदीज़ ने बिना सिर उठाये शायद कह दिया हो—"चले जाओ, मैं इस समय गणित का प्रश्न हल कर रहा हूं।"

फौजी आज्ञा का उल्लंघन भला सैनिक को कैसे सहन हो सकता था। उसे तो आर्किमिदीज़ को लेजाने की आज्ञा मिली थी। जीवित या मृत इससे उसे कोई सरोकार न था। उसने तुरन्त अपनी तलवार आर्किमिदीज़ के हृदय में घुसेड़ दी और उसकी समस्या को सदा के लिए हल कर दिया।

प्लूटार्क लिखता है कि जब मार्सिलस ने आर्किमिदीज़ की हत्या का समाचार सुना तो उसे बहुत क्षोभ हुआ। उसने उस हत्यारे सैनिक की ओर देखना भी न चाहा। परन्तु अब क्या हो सकता था। मार्सिलस ने इस पाप का प्रायश्चित करने के लिए आर्किमिदीज़ की अन्त्येष्टि बड़े सम्मानपूर्वक कराई और उसके कुटुम्बियों को भी धन और मान प्रदान किया।

महान गणितज्ञ

आर्किमिदीज़ के समकालीन उसे एक आविष्कारक के रूप में देखते थे। मुख्यतः उसके यांत्रिक-प्रयोग ही उसकी तत्कालीन-कीर्ति का कारण थे। परन्तु आधुनिक विज्ञान-वेत्ता आर्किमिदीज़ को एक महान गणितज्ञ मानते हैं जिस की गवेषणाओं से यंत्र-विज्ञान को काफी सहायता मिली है। वास्तव में आर्किमिदीज़ स्वयं भी अपने-आपको गणित-शास्त्र के पथ का पथिक ही समझता था। यांत्रिक आविष्कार तो उसकी प्रतिभा का एक गौण पहलू थे। इन आविष्कारों के लिए उसके हृदय में न कोई गौरव था और न महत्त्व। यहांतक कि उसने उनको लिपि-बद्ध करने और उनका श्रेय प्राप्त करने तक से इन्कार कर दिया। कदाचित् वह विज्ञान के इस भौतिक उपयोग को शुद्ध विज्ञान के महान उद्देश्य की भावना के विरुद्ध समझता था। प्लूटार्क लिखता है—

"वह यंत्र-शास्त्र और साधारण उपयोग की वस्तुएं निर्माण करने वाली प्रत्येक कला पर ध्यान देना एक हीन और घृणित बात समझता था। उसे पूरा आनन्द उन मानसिक कल्पनाओं में मिलता था जिनका जीवन की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु जिनमें सत्य और उसके प्रयोग से उत्पन्न होने वाली आन्तरिक श्रेष्ठता अन्तर्हित रहती है।"

आर्किमिदीज़ ने गणित-शास्त्र पर जो रचनाएं की हैं उनका महत्त्व आज भी कम नहीं है। कहते हैं कि प्राचीन वैज्ञानिकों में यही एक है जिसकी खोजों के परिणाम इतने सुलझे हुए रूप में हमारे सामने आते हैं।

आर्किमिदीज़ के जीवन का एक ही लक्ष्य था—निरपेक्ष विज्ञानसाधना।

: १३ :

न्यूटन

Nature and Nature's laws lay hid in night
God said: 'Let Newton be' and all was light.
—Pope.

[प्रकृति और उसके नियम अंधेरे में छिपे पड़े थे। ईश्वर ने कहा 'न्यूटन का जन्म हो' और सर्वत्र प्रकाश फैल गया।—पोप]

हमारे सामने प्रतिदिन अनेक भौतिक घटनाएं होती रहती हैं। उन्हें देखकर कभी-कभी हमें कौतूहल अवश्य होता है, पर ऐसे कितने मनुष्य हैं जिनकी कल्पना-शक्ति साधारण बातों से जागृत हो जाती है और वे प्रकृति के रहस्यों को खोलने में संलग्न हो जाते हैं। हम देखते हैं कि ऊपर से छोड़ी जाने वाली वस्तुएं सदा पृथ्वी की ओर ही गिरती हैं, पर पेड़ से टूटकर गिरने वाले एक सेव ने न्यूटन के मस्तिष्क में वह विचार उत्पन्न कर दिया जिसके फलस्वरूप उसने सारे आकाश-पिंडों की गति का नियम खोज निकाला। किसी कवि ने ठीक कहा है—

स्रवन नयन मुख नासिका सब ही कै इक ठौर।
कहिबौ सुनिबौ देखिबौ चतुरन कौ कछु और॥

सर आइज़क न्यूटन की गिनती संसार के उन गिने-चुने महान वैज्ञानिकों में हैं जिनका नाम सदा के लिए अमर होगया है। लेकिन इतना ही नहीं; न्यूटन का चरित्र भी एक ऐसी कहानी है, जिससे हम स्फूर्ति ग्रहण कर सकते हैं।

होनहार-बालक

१६४२ ई० का बड़ा दिन (२५ दिसम्बर) न्यूटन का जन्म-दिवस है। मानो विधाता ने महात्मा ईसा की जन्मतिथि पर न्यूटन को जन्म देकर पहले ही यह जतला दिया हो कि यह भी संसार-व्यापी कीर्तिवाला होगा।

न्यूटन का जन्म इंग्लैंड के वूल्सथोर्प नामक गांव में हुआ था। इसकी माता का नाम हैना था। जन्म के तीसरे ही वर्ष इसके पिता का देहांत होगया और इसकी माता ने लिंकन-शायर के एक पादरी बार्नेबास स्मिथ से दूसरा विवाह कर लिया। अतः न्यूटन को उसकी नानी मिसेज आइसकफ के संरक्षण में छोड़ दिया गया। नानी ने इसे स्कूल में तो बैठा दिया पर उसका यह लाडला धेवता पढ़ने-लिखने में बहुत पीछे रहने लगा। उसका अधिकांश समय छोटी-मोटी चीजें बनाने में जाता था। उसकी बनाई हुई वस्तुओं को देखकर लोग यही कहते थे कि यह आगे चलकर बड़ा कुशल कारीगर बनेगा। छोटी-सी उम्र में ही उसने पानी से चलने वाली एक घड़ी बना डाली और अपने बाग में एक धूप-घड़ी बनाकर लगा दी। एक दिन उसने अपने गांव में आटा पीसने की पवन चक्की को देखकर उसी का एक छोटा-सा नमूना बना लिया।

ज्ञान-पिपासा का सूत्रपात

पढ़ने-लिखने में न्यूटन का मन बिलकुल नहीं लगता था, लेकिन एक घटना ने उसके जीवन की दिशा ही बदल दी। न्यूटन के स्कूल में एक नटखट लड़का था जो सबको तंग किया करता था और जिससे सब डरते थे। एक दिन उसने न्यूटन को सीधा-साधा और कमजोर समझकर अपना शिकार बनाया। लेकिन जब न्यूटन ने उसे धर-दबोचा तो सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। कहते हैं उसी दिन से न्यूटन में इतना आत्मविश्वास पैदा होगया कि वह थोड़े ही दिनों में पढ़ाई में भी अपने सब सहपाठियों से आगे निकल गया। अब उसका समय गणित और विज्ञान की पुस्तकों के अध्ययन में बीतने लगा। रात को वह आकाश में तारों की ओर देखा करता और उनकी दूरी, चाल इत्यादि के विषय में कल्पनाएं किया करता।

विद्याभ्यास

लेकिन उसके ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में एक बाधा आ पड़ी। जब वह चौदह वर्ष का हुआ तो उसके सौतेले पिता का देहांत होगया और उसकी माता ने उसे स्कूल से उठाकर खेती-बाड़ी के काम में लगा दिया। पर न्यूटन को तो दूसरी ही धुन लगी हुई थी। इधर भेड़ें तितर-बितर हो जातीं और ढोर खेत चराकरते, उधर न्यूटन या तो किताबों में उलझा रहता या चाकू से लकड़ी के नमूने बनाया करता। जब उसके मामा ने यह हाल देखा तो उसने न्यूटन की माता को समझा-बुझाकर उसे कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में भर्ती करा दिया। १६६१ ई० में उसने मैट्रिक का इम्तहान पास करके १६६५ ई० में बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर ली। पढ़ने में न्यूटन की कितनी उत्कट लगन थी, इसके विषय में एक कहानी प्रचलित

है। एक दिन न्यूटन का मित्र डा० स्टूकले उससे मिलने आया। न्यूटन तो अध्ययन में लगा हुआ था और खाना मेज पर रखा हुआ ठंडा हो रहा था। स्टूकले ने न्यूटन का ध्यान बटाना उचित न समझा और कटोरदान में रखा हुआ खाना खाकर ढक्कन वैसा ही लगा दिया। थोड़ी देर बाद जब न्यूटन आया और उसने कटोरदान का ढक्कन उठाकर देखा तो कहने लगा, "अरे मैंने तो समझा था मैंने खाना नहीं खाया, पर मालूम होता है कि मैं खाना खा चुका।" हजरत को पढ़ने के ध्यान में यह भी याद न रहा कि खाना खाया था नहीं!

असाधारण प्रतिभा

कालेज की शिक्षा समाप्त करने से पहले ही न्यूटन की असाधारण प्रतिभा चमकने लगी थी। जिस साल उसने डिग्री की परीक्षा पास की उसी साल गणित के एक महत्त्वपूर्ण नियम का आविष्कार किया और साल भर बाद, १६६६ ई० में, एक और नियम खोज निकाला। इसी साल अपने गांव वूल्सथोर्प के बाग में घूमते हुए एक सेव को पेड़ से गिरता देखकर उसे पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति की कल्पना हुई और इसी आधार पर उसने आकाश के सारे पिंडों की गति का गुरुत्वाकर्षण-नियम निकाला जो उसीके नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन इस नियम को प्रकाश में लाने का श्रेय न्यूटन के साथी हेली को है जिसने उसे अपनी खोजों के परिणाम पुस्तक रूप में प्रकाशित करने के लिए राजी किया। यह पुस्तक १६८७ ई० में प्रकाशित हुई।

१६६७ ई० में न्यूटन फिर कैम्ब्रिज लौट आया और ट्रिनिटी कालेज का फेलो नियुक्त हुआ। यहां उसने प्रकाश की

रचना के सम्बन्ध में खोज शुरू की और इसके विषय में अपनी कल्पना वैज्ञानिकों के सामने रखी जिस पर कई साल तक वाद-विवाद चलता रहा। उसने एक नई तरह की दूरबीन का भी आविष्कार किया।

पदों की प्राप्ति

कैम्ब्रिज वापस आने के दो वर्ष बाद न्यूटन वहां गणित का प्रोफेसर हो गया और इसके दो वर्ष बाद वह इंग्लैंड की प्रमुख वैज्ञानिक संस्था रायल सोसाइटी का सदस्य बना लिया गया।

कुछ ही वर्ष बाद वह रायल सोसाइटी का प्रधान चुन लिया गया और पच्चीस वर्ष तक लगातार इस पद को सुशोभित करता रहा। कई बार वह यूनिवर्सिटी की ओर से पार्लमेण्ट का सदस्य भी निर्वाचित हुआ।

न्यूटन की आयु के लगभग दो वर्ष, १६९२ से १६९४ तक, एक कठिन रोग में बीते। उसे अनिद्रा रोग हो गया और उसके मस्तिष्क की ऐसी हालत हो गई कि लोगों ने समझा कि वह विक्षिप्त होगया है। परन्तु उसने पूर्ण आरोग्य लाभ किया और इंग्लैण्ड की सरकार ने उसकी खोजों के पुरस्कार रूप उसे टकसाल का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। १७०५ ई० में इंग्लैण्ड की रानी ऐन ने उसे "सर" की उपाधि से उसे विभूषित किया।

मृत्यु

१७२७ ई० में ८५ वर्ष की आयु में न्यूटन की मृत्यु हुई। उसे लन्दन के प्रसिद्ध वैस्ट मिंस्टर अबे नामक गिर्जाघर में दफनाया गया जहां इंग्लैण्ड की अनेक विभूतियों की कब्रें हैं।

चरित्र की विशेषताएं

साधारणतया न्यूटन का नाम संसार के एक महान वैज्ञानिक के रूप में लोगों के सामने आता है। पर न्यूटन वास्तव में एक महापुरुष था। उसके जीवन की कितनी ही ऐसी घटनाएं हैं जो उसकी महानता का परिचय देती हैं।

क्षमाशीलता

यदि कोई अनजाने में भी हमारा काम बिगाड़ दे तो हमें क्रोध आये बिना नहीं रहता। ऐसे क्रोध के आवेश में साधारणतया लोगों को विवेक नहीं रहता। लेकिन न्यूटन को देखिए। एक बार वह कुछ महत्त्वपूर्ण कागज़ मेज़ पर छोड़कर अपने कमरे से बाहर गया। कमरे में मोमबत्ती जल रही थी और उसका प्यारा कुत्ता डायमण्ड अंगीठी के पास सोया हुआ था। न मालूम कुत्ते को क्या सूझी कि वह एकदम उछला जिससे मोमबत्ती काग़ज़ों पर गिर पड़ी और वे जलकर राख हो गए। न्यूटन जब वापस आया तो यह हालत देखकर एक क्षण के लिए स्तब्ध हो गया। इन काग़ज़ों में उसकी प्रकाश-सम्बन्धी बीस वर्षों की खोजों के परिणाम लिखे हुए थे और इस समय उसकी आयु पचास तक पहुँच चुकी थी। लेकिन कुत्ता जब दुम हिलाता हुआ उसके पास आया तो उसने उसे थपथपा कर इतना ही कहा—"डायमण्ड तू नहीं जानता तूने मेरा कितना नुकसान कर दिया।" कहते हैं इस दुर्घटना का न्यूटन के स्वास्थ्य पर बहुत असर पड़ा, पर उसने कभी किसीसे शिकायत नहीं की।

सादगी

न्यूटन के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सादगी

तुच्छ पथिक समझता था। बड़े-बड़े सम्मानों और उपाधियों ने भी उसमें कभी गर्व की छाया तक नहीं आने दी। उसका जीवन विज्ञान और आध्यात्मिकता का एक ऐसा समन्वय था जिसका उदाहरण इस भौतिकवाद के युग में मिलना कठिन है।

: १४ :

"जादूगर" एडिसन

जो असाधारण घटनाएं अथवा वस्तुएं हमारे दैनिक जीवन के अनुभवों का व्यक्ति-क्रम करती हैं तथा जिनका रहस्य हमारी समझ में नहीं आता उन्हें हम चमत्कार या "जादू" कहने लगते हैं और इन चमत्कारों को दिखलाने वाला जादूगर समझा जाता है। छोटी-सी गुठली से कालान्तर में आम का बड़ा भारी वृक्ष उत्पन्न हो जाना और उसका फूलना-फलना हमारी दृष्टि में कोई चमत्कार नहीं; क्योंकि यह घटना हमारे साधारण अनुभव की बात है। किन्तु यदि कोई बाज़ीगर ५-१० मिनट में आम का पेड़ जमाकर दिखला देता है तो हम उसके चमत्कार से आश्चर्य-चकित हो जाते हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक टॉमस अल्वा एडिसन को जादूगर की उपाधि दी गई थी, इसका कारण यही था कि जिस प्रकार एक जादूगर अपने भानमती के पिटारे में से नये-नये खेल निकालता चला जाता है उसी प्रकार एडिसन ने अपनी वैज्ञानिक प्रयोगशाला में से नये-नये चमत्कारी वैज्ञानिक आविष्कार निकालकर संसार को चकित कर दिया। टेलीफ़ोन, ग्रामोफ़ोन, बिजली की रोशनी, सिनेमा, रेडियो, इत्यादि आविष्कारों में कोई भी ऐसा नहीं है जिसके मूल या विकास में एडिसन की

प्रतिभा का संयोग न हो। एक प्रकार से देखा जाय तो उसने अपनी जादू की लकड़ी से आधुनिक भौतिक सभ्यता का ढंग ही बदल दिया।

जन्म और बाल्य-काल

एडिसन का जन्म संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के ओहियो प्रान्त के मिलान नगर में ११ फरवरी १८४७ ई० को हुआ था। बचपन में वह न्यूटन की ही तरह ठोठ था, अतः जब सात वर्ष की आयु में इसे पाठशाला में बिठलाया गया तो तीन ही महीने बाद वहां से उठा भी लिया गया। इसके माता-पिता मिलान से अब पोर्ट ह्यूरन आ गये थे और वहीं इसकी माता ने इसे थोड़ी-बहुत शिक्षा दी। पर एडिसन की रुचि तो प्रारम्भ ही से वैज्ञानिक प्रयोगों की ओर थी। वह बड़े-बड़े विचित्र प्रयोग किया करता जिससे उसकी मौलिक प्रतिभा का अनुमान होता था। एक बार इसने अपने नौकर को सिडलित्स पाउडर की बहुत-सी पुड़ियां यह देखने के लिए खिला दीं कि पेट में गैस भरने से वह गुब्बारे की तरह आकाश में उड़ता है या नहीं (सिडलित्स पाउडर को पानी में डालने से सोडावाटर की तरह गैस निकलने लगती है)।

रेलगाड़ी में अखबार

इस प्रयोग के लिए उसे काफी दण्ड भुगतना पड़ा। अतः अब उसने एक तहखाने में छोटी-सी प्रयोगशाला बनाकर गुप-चुप अपना कार्य जारी रखा। किन्तु इन प्रयोगों के सामान के लिए खर्च कहां से आता? अतः एडिसन ने पोर्ट ह्यूरन और डिट्राइट के बीच दौड़ने वाली रेल पर समाचार पत्र बेचने की अनुमति ले ली। कुछ दिन बाद उसने गाड़ी में

ही छोटा-सा छापाखाना लगा लिया और स्वयं अपना अखबार छापकर बेचने लगा। अब उसने रेलगाड़ी को ही अपना घर बना लिया और अपनी प्रयोगशाला भी पार्सलों की गाड़ी में ही बना डाली।

दुर्घटना

एक दिन गाड़ी के झटके से प्रयोगशाला में रखी हुई फास्फोरस की शीशी फूट गई। फास्फोरस पानी में रखा रहता है और हवा लगते ही जल उठता है। इसलिए गाड़ी में तुरन्त आग लग गई और कण्डक्टर ने एडिसन को उसकी प्रयोगशाला और छापेखाने समेत उठाकर गाड़ी के बाहर फेंक दिया। कहते हैं कि कण्डक्टर ने एडिसन के कानों पर इतने तमाचे लगाये कि जीवन-भर के लिए उसकी श्रवण-शक्ति कम हो गई।

अद्भुत साहस

परन्तु शीघ्र ही एक ऐसी घटना हुई जिसने एडिसन के जीवन में एक अलभ्य अवसर उपस्थित कर दिया।

जिस स्टेशन पर उसकी दुर्गति हुई थी उसीपर १८६२ ई० का एक दिन था। एडिसन प्लेटफार्म पर अखबारों का बंडल लिये खड़ा था। सामने रेल की पटरी पर स्टेशन मास्टर का छोटा बच्चा खेल रहा था। उधर से एक माल गाड़ी स्टेशन की तरफ दौड़ी चली आ रही थी। एक सेकंड की देर थी कि बच्चा गाड़ी के नीचे आ जाता; किन्तु एडिसन अखबारों का बंडल फेंककर बिजली की तरह लपका और बच्चे को बाल-बाल बचा लिया।

बालक के कृतज्ञ पिता स्टेशन मास्टर ने एडिसन को तार

का काम सिखाया और वह उस। स्टेशन पर तार बाबू ि युक्त हो गया।

आविष्कारों का सूत्रपात

जब एडिसन स्ट्रेटफर्ड जंकशन पर तार बाबू था तो रात में हर घण्टे उसे एक सांकेतिक संवाद भेजना पड़ता था। इस इल्लत से बचने के लिए उसने एक यन्त्र बना डाला जो अपने आप निश्चित समय पर तार खटखटा देता था और एडिसन आराम से सोया रहता था।

१८६९ ई० में एडसिन की बदली बोस्टन को हो गई। तार-यन्त्र के सुधार के लिए वह प्रारम्भ से ही प्रयोग कर रहा था। इनके फलस्वरूप उसने "फीता-मशीन" का आविष्कार किया जिसके द्वारा तार से भेजा हुआ संवाद दूसरे छोर पर एक फीते पर छपता जाता है। अतः, अब उसने नौकरी छोड़ दी और अपनी आविष्कार-प्रतिभा से लाभ उठाने के लिए न्यूयार्क चला आया।

स्वर्ण-अवसर

जिस समय एडिसन न्यूयार्क पहुँचा उसकी जेब में कौड़ी भी न थी। दो दिन तक वह भूखा-प्यासा गोल्ड ईंडिकेटर कम्पनी के तारघर में पड़ा रहा। यह कम्पनी दलालों के लिए तार भेजने का काम करती थी। एडिसन के सौभाग्य से तीसरे दिन कंपनी का तार-यंत्र अकस्मात बिगड़ गया जिससे कंपनी को भारी हानि उठाने की सम्भावना हो गई। परन्तु एडिसन ने तुरन्त यंत्र को ठीक करके उसे चालू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वह कंपनी के सारे तार-घर का मैनेजर नियुक्त हो गया।

प्रथम पुरस्कार

कुछ वर्ष बाद तार भेजने वाली एक बड़ी कम्पनी ने एडिसन के सामने प्रस्ताव रखा कि वह उसके तार-यंत्र में नये सुधार करके उसे अधिक उपयोगी बना दे। एडिसन ने कुछ दिन के परिश्रम से "एडिसन यूनिवर्सल प्रिंटर" यन्त्र तैयार कर दिया। उसे आशा थी कि इस नये यंत्र का पुरस्कार उसे पांच हज़ार डालर से अधिक नहीं मिलेगा। अतः जब कम्पनी के प्रेसीडेण्ट ने अपनी ओर से चालीस हज़ार डालर देने को कहा तो एडिसन को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ!

स्वतंत्र व्यवसाय

उपर्युक्त कम्पनी की साझेदारी छोड़कर एडिसन ने नेवार्क नगर में अपना एक स्वतंत्र कारखाना खोला जिसमें "फीता-मशीनें" बनाई जाती थीं। साथ-साथ तार-यन्त्रों में सुधार के नये-नये प्रयोग भी यहां किये जाते थे। उनके फलस्वरूप एडिसन ने ऐसा यन्त्र-निर्माण किया जिसकी सहायता से बिजली के एक ही तार पर एक साथ दो-दो और चार-चार तार-सम्वाद भेजा जाना सम्भव हो गया। इस यन्त्र की गणना एडिसन के महत्त्वपूर्ण आविष्कारों में है; क्योंकि इससे बिजली के तारों पर खर्च होने वाले करोड़ों रुपये की बचत हो जाती है।

मेनलो-पार्क का जादूगर

१८७६ ई० में एडिसन नेवार्क छोड़कर मेनलो-पार्क चला आया और यहां उसने अपना सुप्रसिद्ध विशाल कारखाना खोला। अब उसने अपना सारा समय नये-नये यंत्रों के आविष्कार में लगा दिया। सबसे पहले तो उसने टेलीफोन यंत्र का परिष्कार किया, जिससे उसमें बोलने की आवाज़ साफ़

सुनाई देने लगी। इसी आधार पर उसने आगे चलकर लाउड-स्पीकर यंत्र बनाया जिसके बिना आजकल की सभाओं का काम ही नहीं चलता।

साल भर बाद, १८७७ ई० में, एडिसन ने फोनोग्राफ़ का नमूना तैयार किया जिससे सारे वैज्ञानिक जगत् में हलचल मच गई और समाचार पत्रों ने उसे एक स्वर से "मेनलो-पार्क का जादूगर" घोषित कर दिया।

बिजली की रोशनी

आज हम एक छोटा-सा बटन दबाकर चारों ओर जो बिजली का प्रकाश फैला देते हैं उसका सारा श्रेय एडिसन को ही है। पहले तो उसने बिजली का लट्टू बनाया जिसके भीतर का तार जले नहीं और चमककर रोशनी देता रहे। इसके बाद उसने बिजली की धारा को वितरण करके उसे एक ही तार के द्वारा अनेक लट्टुओं में पहुँचाने की तरकीब निकाली। बड़े-बड़े नगरों में खर्च होने वाली बिजली उत्पन्न करने के लिए उसने डायनमो बनाये। बिजली को नापने की आवश्यकता पड़ी तो उसने उसके लिए तरह-तरह के मोटर तैयार कर डाले। मतलब यह कि उसने बिजली के उत्पादन से लगाकर उसके वितरण तक का सारा ढांचा बना दिया और उसके लिए जितने साधनों उपकरणों तथा यन्त्रों की आवश्कता पड़ी उनका आविष्कार किया।

सूत के डोरे को जलाकर और उसे कांच के गोले में बन्द करके बिजली का पहला लट्टू बनाने के कठिन प्रयोग का वर्णन एडिसन ने इस प्रकार किया है—"अब उसे कांच की भट्टी पर ले जाना आवश्यक था। बैचलर ने जले हुए बहुमूल्य डोरे को अत्यन्त सावधानी से उठाया और मैं उसके पीछे-

पीछे चला मानो किसी असीम धनराशि की रक्षा कर रहा हूँ। किन्तु जैसे ही हम कांच की भट्ठा के पास पहुँचे, कम्बख्त डोरा टूट गया और हम बड़ी परेशानी में पड़ गए। हम फिर प्रयोग-शाला में आये और नये सिरे से काम आरम्भ किया। तीसरे पहर के बाद कहीं जाकर हम दूसरा जला हुआ डोरा बनाने में सफल हुए, परंतु एक पेच-कस के गिरने से यह भी टूट गया। हम फिर वापस लौटे और रात होते-होते हमने डोरे का कोयला बनाकर उसे गोले के अन्दर लगा दिया। गोले में से हवा खींचकर निकाल दी गई और उसे बन्दकर दिया गया। फिर बिजली की धारा छोड़ी गई और जिस दृश्य की हम लम्बे अर्से से आशा कर रहे थ वह हमारी आंखों के सामने आ गया।"

सिनेमा

१८८७ ई० में एडिसन मेनलो पार्क से न्यूयार्क आ गया और बाद के सारे आविष्कार उसने यहीं आकर किये।

चलती-फिरती तस्वीरों के प्रयोग कई वर्ष पूर्व से हो रहे थे परन्तु वे केवल खिलौने बनकर रह गए थे। एडिसन ने इस खिलौने को ऐसी अवस्था पर पहुँचा दिया कि आज वह हमारे मनोरंजन और शिक्षा का एक सर्वोत्कृष्ट साधन बन गया है। पहले तो एडिसन ने एक कैमरा बनाया जिसके द्वारा किसी घटना की लगातार तस्वीरें उतरती चली आती हैं। फिर इन तस्वीरों को उतारने के लिए उसने सैल्युलाइड के फीते का आविष्कार किया और अन्त में फीते पर उतरी हुई तस्वीरों के प्रदर्शन के लिए प्रोजैक्टर निर्माण किया। इस प्रोजैक्टर में फीते पर उतरी हुई लगातार तस्वीरें बिजली की रोशनी के सामने जल्दी सरकती चली जाती हैं और हमारी

आंखों को यह भ्रम हो जाता है कि वे गति कर रही हैं।

अन्य आविष्कार

एडिसन ने कितने आविष्कार किये, उनकी गणना करना कठिन है। लगभग १५०० मुख्य आविष्कारों को तो उसने पेटंट करा लिया तथा दूसरे छोटे-मोटे अनेक आविष्कार और परिष्कार किये वे अलग। रेडियो में लगने वाले वाल्व एडिसन की ही सूझ का परिणाम है। एक्सरे यंत्र में जिस चमकदार परदे पर शरीर की हड्डियों की छाया को देखकर उनकी परीक्षा की जाती है वह भी एडिसन का ही आविष्कार है। बिजली के उपयोग का तो कदाचित ही कोई अंग ऐसा हो जो एडिसन के वैज्ञानिक हाथ से अछूता हो।

१९१४–१८ ई० के महायुद्ध में अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्र की सरकार ने उसे नेवल कन्सल्टिंग बोर्ड का अध्यक्ष नियुक्त किया और इसने समुद्री युद्ध में काम आने वाले चालीस-पचास उपकरणों का आविष्कार किया।

मृत्यु

१८ अक्तूबर १९३१ को ८४ वर्ष की आयु में एडिसन का देहान्त हुआ। मृत्यु के पूर्व तक वह अपनी प्रयोगशाला में काम करता था और नित्य नये-नये अनुसंधान तथा आविष्कार किया करता था।

जीवन पर एक दृष्टि

वैज्ञानिक दृष्टि से एडिसन का जीवन चाहे जितना सफल रहा हो परन्तु फिर भी वह था एकांगी ही। उसकी सारी प्रतिभा और शक्ति भौतिक विज्ञान की साधना में ही लगी रही और एक हठ-योगी की भांति वह इससे आगे नहीं बढ़

सका। उसने तो गीता के इस श्लोक को चरितार्थ किया—

कांक्षतः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

उसकी साधना में आध्यात्मिकता का अंश नहीं था; क्योंकि उसने विज्ञान को नर-संहारक युद्धोपयोगी शस्त्रास्त्र के आविष्कारों में लगाने में कोई हिचकिचाहट नहीं की। आज विज्ञान के विषय में लोगों की जो गलत धारणा बनती जा रही है, उसका कारण विज्ञान-साधकों का यही एकांगी दृष्टिकोण है।

दाम्पत्य जीवन

एडिसन ने दो विवाह किये और पहली स्त्री से उसके तीन बच्चे भी हुए, किन्तु उसका दाम्पत्य जीवन एक प्रकार से नहीं के बराबर रहा। उसे तो हम जीवन-भर विज्ञान के प्रयोगों में तन्मय और तल्लीन पाते हैं स्वयं अपने ही तन-बदन की सुध नहीं रहती थी फिर भला स्त्री और बाल-बच्चों के लिए तो उसके पास अवकाश ही कहां था! उसकी तन्मयता का एक उदाहरण न्यूटन से ही मिलता-जुलता है। कहते हैं, एक बार वह एक प्रयोग में इतना संलग्न हो गया कि दो-तीन दिन तक लगातार उसकी स्त्री प्रातःकाल चाय बनाकर लाती और थोड़ी देर बाद वैसी-की-वैसी उठाकर ले जाती। तीसरे दिन जब उससे न रहा गया तो उसने एडिसन का ध्यान आकर्षित किया। एडिसन ने यही कहा कि चाय को आये पन्द्रह मिनट भी नहीं हुए। उसे पता नहीं था कि यह तीसरे सुबह की चाय थी।

अद्वितीय गुण

एडिसन में सबसे बड़ा तथा अनुकरणीय गुण यह था कि जब-तक उसे यह विश्वास न हो जाय कि उसकी निर्माण की हुई

वस्तु में आगे परिष्कार की गुंजायश नहीं रही तबतक वह उसे अपनी प्रयोगशाला अथवा कारखाने से बाहर नहीं जाने देता था। उसकी कम्पनी के कार्यकर्ता कहा करते थे कि "बुड्ढा तो वस्तुओं को अच्छी बनाने की धुन में रहता है।" भरती की चीजें बनाकर धन कमाने की प्रवृत्ति एडिसन में नहीं थी।

एडिसन इस युग का सबसे बड़ा व्यावहारिक वैज्ञानिक माना जाता है। उसके विषय में अमेरिका के प्रसिद्ध मोटर व्यवसायी हेनरी फोर्ड ने कहा था—"उसका ज्ञान इतना सर्व-व्यापक है कि उसे केवल विद्युत-विशेषज्ञ अथवा रसायनज्ञ की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता—वास्तव में उसे किसी श्रेणी में रखा ही नहीं जा सकता। जितना ही अधिक मैं उसके सम्पर्क में आया हूँ उतना ही अधिक वह मुझे महान प्रतीत हुआ है।"

: १५ :

कुरी दम्पती

रेडियम का नाम बहुधा सुनने में आता है। पर न तो घड़ियों के चमकदार "रेडियम-डायल" से इसका कुछ सम्बन्ध है और न मिलते-जुलते नाम वाले रेडियो से। हां, ये दोनों वस्तुएं रेडियम के गुणों की ओर संकेत अवश्य करती हैं!

विज्ञान के आधुनिक अनुसंधानों में रेडियम का कितना महत्त्व है, इससे बहुत कम लोग परिचित हैं। जिन्होंने रेडियम देखा है उनकी संख्या कदाचित् इनसे भी कम हो और रेडियम के प्रकाश को प्रकाश में लाने वाले कुरी दम्पती—मैदम मेरी कुरी और उनके पति प्रोफेसर पीयरी कुरी के नाम तो विज्ञान के

विद्यार्थियों के सिवा बहुत ही कम लोगों ने सुने होंगे। यद्यपि रेडियम के आविष्कार का श्रेय मैदम कुरी को है, परन्तु इसके अनुसंधान में पति-पत्नी दोनों का ही हाथ है। विवाह के बाद दोनों के जीवन ने एक ही धारा में बहकर संसार को जो वस्तु दी है, उससे कुरी दम्पती का नाम विज्ञान के इतिहास में रेडियम के ही अक्षरों में लिखा रहेगा।

मैदम कुरी

भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू का नाम सारे सभ्य-जगत में विख्यात है, परन्तु उनके पति डा० नायडू को अपने देश में भी बहुत कम लोग जानते हैं। हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय स्वयं एक प्रसिद्ध कलाकार हैं और कमलादेवी का नाम तो समाचार-पत्रों में आये दिन पढ़ने में आता है। परन्तु कुछ वर्ष पहले ये दोनों पति-पत्नी थे, इसका सर्वसाधारण को पता नहीं है। कुरी दम्पती का उदाहरण इन दोनों से भिन्न है; परन्तु फिर भी दोनों के सम्मिलित जीवन की प्रधान पात्री मैदम कुरी ही मानी जाती है। इसका एक कारण यह भी है कि प्रोफेसर कुरी की मृत्यु पहले हुई।

जन्म और शिक्षा

प्रोफेसर कुरी से विवाह के पूर्व मैदम कुरी का नाम मेरिया स्क्लोदोवस्का था। इसका पिता प्रोफेसर स्क्लोदोवस्का पोलैंड का निवासी था और वहीं के प्रसिद्ध वारसा नगर में विज्ञान का आचार्य था। मेरिया का जन्म ७ नवम्बर १८६७ ई० को वारसा में ही हुआ और वहीं इसने शिक्षा पाई। अतः यह स्वाभाविक ही था कि प्रारम्भ से ही इसकी रुचि विज्ञान के अध्ययन की ओर रही।

क्रांतिकारी दल

उस समय पोलैंड रूस के ज़ार के अत्याचारों से पीड़ित था। देश में चारों ओर दमन और आतंक का साम्राज्य था। सारी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को निर्दयतापूर्वक कुचला जाता था। यहां तक कि स्कूलों में पोलिश भाषा के बजाय रूसी भाषा ही पढ़ाई जाती थी। परन्तु ये सारे दमन और अत्याचार पोल लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं को न दबा सके। परिणाम यह हुआ कि विद्रोह की अग्नि भीतर-ही-भीतर सुलगने लगी और क्रान्तिकारियों के गुप्त दल संगठित होने लगे। विद्यार्थिनी मेरिया पर भी देश-भक्ति की इस लहर का प्रभाव पड़े बिना न रहा और वह एक क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गई। परन्तु अब वारसा में उसकी शिक्षा समाप्त हो चुकी थी, अतः आगे शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसे पोलैंड से बाहर जाने को बाध्य होना पड़ा। मेरिया को तो मैदम कुरी बनकर संसार में ख्याति प्राप्त करनी थी, फिर भला दैव उसे पोलैंड में ही कैसे रहने देता। इस सम्बन्ध में मेरिया के बचपन की एक घटना बड़ी मनोरंजक है।

भविष्य-वाणी

एक दिन ६–७ वर्ष की एक सुन्दर और सुकुमार बालिका वारसा की गली में बच्चों के साथ खेल रही थी। अकस्मात एक जिप्सी* बुढ़िया ने उसे रास्ते में रोककर उसका हाथ देखना

---

* जिप्सी यूरोप की एक घुमक्कड़ जाति है। ये लोग जड़ी बूटियां बेचते हैं, जादू टोना करते हैं और सामुद्रिक इत्यादि के द्वारा लोगों के भाग्यफल बतलाते हैं। कहते हैं, इनका मूल निवासस्थान भारत है। इनकी भाषा संस्कृत से मिलती-जुलती है।

चाहा। बालिका ने तुरन्त अपना हाथ बढ़ा दिया। बुढ़िया ने हाथ की रेखाओं को ध्यान से देखकर अस्फुट शब्दों में कहा, "तुम ख्याति प्राप्त करोगी।" इतना कहकर बुढ़िया तुरन्त आगे चल दी। दूसरे बालक शोर मचाते और प्रश्न करते ही रह गए। यह बालिका मेरिया थी।

पैरिस में आगमन

मेरिया का विचार क्रैको के विश्वविद्यालय में अध्ययन करने का हुआ, परन्तु वहां उसे स्त्री होने के कारण प्रविष्ट नहीं किया गया। अन्त में वह पेरिस आई; क्योंकि यहां के एक विश्वविद्यालय में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध नहीं था।

पैरिस में मेरिया को स्वतन्त्र रूप से अपना जीवन-निर्वाह और अध्ययन दोनों काम करने पड़े। वह अपने घर का सब काम करती थी, विश्वविद्यलय में पढ़ाती थी और वहीं स्वयं भी पढ़ती थी।

विवाह

अब मेरिया एक सुन्दर युवती थी। उधर पैरिस के उसी विश्वविद्यालयों में पीयरी क्युरी एक प्रसिद्ध प्रोफेसर था और रूपवान भी। दोनों एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए। जीवन का लक्ष्य भी दोनों का एक ही था। मानो विधाता ने यह जोड़ी किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाई हो। १८९५ ई० में दोनों का विवाह होगया और मेरिया स्क्लोदोवस्का मैदम मेरी क्युरी बन गई।

प्रोफेसर क्युरी

पीयरी क्युरी का जन्म पैरिस में १८५९ ई० में हुआ था। यह बालकपन से ही अत्यन्त प्रतिभाशाली था। इसने पैरिस के

विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई और सर्वोच्च प्रमाण-पत्र प्राप्त करके वहीं प्रोफेसरी कर ली। इसका विद्यार्थी-जीवन परिश्रम, अध्यवसाय और असाधारण सफलता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

कुरी फ्रांसीसी था और मेरिया पोल थी। विवाह दोनों का अन्तर्राष्ट्रीय हुआ, परन्तु सामाजिक परम्परा ने पोल युवती को फ्रांसीसी महिला बना दिया।

रेडियम का आविष्कार

विवाह ने दोनों के वैज्ञानिक अन्वेषणों को चार चाँद लगा दिये। अबतक जो दो धाराएं एक ही दिशा में अलग-अलग बह रहीं थीं, मिलकर एक हो गईं।

जिस वर्ष दोनों का विवाह हुआ उसी वर्ष फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैनरी बैकरेल ने पता लगाया कि कुछ रासायनिक पदार्थों में यह गुण होता है कि यदि उन्हें कागज में लपेटकर फोटोकी प्लेट पर रख दिया जाय तो प्लेट पर प्रकाश-किरणों का चित्र उतर आता है। इससे बैकरेल ने अनुमान लगाया कि इन पदार्थों में से अदृश्य किरणें निकलती हैं। पदार्थों के इस गुण को "रेडियो-एक्टिविटी" अर्थात् रश्मि-विकीर्णन नाम दिया गया और रश्मियों का नाम बैकरेल-रश्मियां रखा गया।

बैकरेल की खोज ने कुरी-दम्पती को इस विचार की ओर प्रेरित किया कि रश्मि-वीकीर्णक पदार्थों में अवश्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ है जिसमें से रश्मियां प्रस्फुटित होती है। अतः दोनों इसे पृथक करने में जुट पड़े और तीन वर्ष के अथक परिश्रम के पश्चात् मैदम कुरी ने दो तत्त्व ढूंढ़ निकाले। एक का नाम तो उसने अपनी जन्मभूमि की स्मृति में पोलोनियम रखा और दूसरे का रेडियम। इस अनुसन्धान के फलस्वरूप कुरी-

दम्पती और बेकरेल को १६०४ ई० में नोबल पुरस्कार प्रदान करके सम्मानित किया गया।

प्रारम्भिक कठिनाइयां

रेडियम धातु पिचब्लेंडी नामक खनिज पदार्थ में मिली हुई पाई जाती है। परन्तु इसे पृथक् करना आसान काम नहीं है। पिचब्लेंडी स्वयं एक मूल्यवान वस्तु है, अतः यदि आस्ट्रिया के सम्राट ने कुरी दम्पती को एक टन पिचब्लेंडी की उदारता पूर्वक भेंट न दी होती तो इन्हें बहुत कठिनाई होती। दूसरे, जिस क्रिया से रेडियम को अलगाया जाता है, वह बहुत ही जटिल है। साथ ही उसमें धन और समय का भी पूरा व्यय होता है। इन सब बातों का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि एक टन पिचब्लेंडी से अलगाते-अलगाते कहीं जाकर एक रत्ती से भी कम रेडियम प्राप्त होता है। इस क्रिया में ५-६ टन तो अन्य मूल्यवान रासायनिक पदार्थ खर्च हो जाते हैं; असाधारण सावधानी और धैर्य की आवश्यकता होती है सो अलग। तीसरे रेडियम से खेलना निरापद भी नहीं है। इंग्लैंड में रेडियम का प्रयोग सिखलाते समय प्रोफेसर कुरी का हाथ इतना जल गया कि उनकी उंगलियां जीवन भर के लिए बेकार हो गईं। रेडियम की खोज में तीन साल अनवरत प्रयोग करते-करते मैदम कुरी का स्वास्थ्य भी बहुत गिर गया था।

रेडियम

रेडियम से अधिक प्रकाशमान और शक्तिशाली तत्त्व अभीतक कोई दूसरा नहीं मिला है। इसमें से निकलने वाली रश्मियों अर्थात् सूक्ष्म किरणों में इतनी भेदन-शक्ति होती है कि वे धातु की मोटी-मोटी चादरों को भी पार करके निकल

जाती हैं। रेडियम की इन रश्मियों का उपयोग कैन्सर इत्यादि भीतरी फोड़ों के उपचार में किया जाता है। परन्तु इसके वैज्ञानिक महत्त्व का अन्दाज लगाना कठिन है। इसने यह सिद्ध कर दिया कि संसार के सारे पदार्थ केवल शक्ति का ही एक भौतिक रूप हैं और एक तत्त्व के परमाणुओं की रचना को बदलकर दूसरा तत्त्व बनाया जा सकता है। लौकिक भाषा में यों कह सकते हैं कि किसी भी धातु को सोने में परिवर्तन किया जा सकता है। प्राचीन भारत के रसायनज्ञों की तांबे से सोना बनाने की क्षमता को अब निरी कपोल-कल्पना नहीं कहा जा सकता।

रेडियम इतनी दुष्प्राप्य धातु है कि अभी तक इसकी केवल २–३ छटांक मात्रा ही प्राप्त की जा सकी है। इस मात्रा का कुछ भाग तो संसार के प्रसिद्ध अस्पतालों में है और कुछ वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में। एक तोला रेडियम निकालने में डेढ़-दो करोड़ रुपये के लगभग लागत पड़ती है।

सम्मान

रेडियम के चमत्कारी आविष्कार ने विज्ञान-जगत में हलचल मचा दी और सब ओर से कुरी दम्पती पर सम्मानों की वर्षा होने लगी। पैरिस के विश्वविद्यालय ने रेडियम पर अनुसंधान करने के लिए एक नया विभाग खोलकर प्रोफेसर कुरी को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया। मैदम कुरी उनकी सहायक नियुक्त हुईं।

वज्रपात

कुरी दम्पती के गार्हस्थ्य जीवन को धन, कीर्ति और संतान; तीनों मिलकर सुखमय बना रहे थे। परन्तु यह सुख संसार की

अन्य सारी वस्तुओं की भांति अस्थायी प्रमाणित हुआ। १९०७ ई० के रेडियम के आविष्कार से तीन ही वर्ष बाद प्रोफेसर कुरी की पैरिस की सड़क पर एक गाड़ी से टक्कर लगकर मृत्यु हो गई। मैदम कुरी के हृदय पर भयंकर वज्रपात हुआ और उसने इस शोक को भुलाने का एक ही मार्ग देखा। वह और भी अधिक लगन के साथ अपने वैज्ञानिक कार्य में दत्तचित्त हो गई।

फिर नोबल पुरस्कार

पैरिस विश्वविद्यालय में मैदम कुरी ने अपने पति का स्थान ग्रहण कर लिया और अथक परिश्रम के फलस्वरूप १९११ ई० में रसायन-विज्ञान सम्बन्धी खोजों के लिए नोबल-पुरस्कार प्राप्त किया। उसके प्रयत्न से पैरिस और उसके जन्मस्थान वारसा में रेडियम इंस्टीट्यूटों की स्थापना हुई जिनमें रेडियम के गुणों पर खोज की जाने लगी और इसका चिकित्सा में भी उपयोग किया जाने लगा।

सेवाकार्य

१९१४-१८ ई० के महायुद्ध में मैदम कुरी ने रेडियम द्वारा युद्ध के घायल सैनिकों की चिकित्सा में सहयोग दिया। युद्ध का अंत होने पर अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने मैदम कुरी की सेवाओं के उपलक्ष में उसे एक ग्राम (लगभग एक माशा) रेडियम प्रदान किया। १९२९ ई० में फ्रांस की सरकार ने १५-लाख फ्रैंक लगा कर एक रेडियम फैक्टरी तथा प्रयोगशाला खोली और मैदम कुरी को उसकी अध्यक्षा नियुक्त किया।

सुयोग्य पुत्री

मैदम ने दो पुत्रियों को जन्म दिया। इनमें से एक पुत्री

आइरीन ने अपनी माता के नाम को और भी चमका दिया। इसने अपने पति प्रोफेसर जोलियो के साथ रेडियो-एक्टिविटी पर बड़े मार्के के अनुसन्धान किये, जिसके फलस्वरूप १६३५ में दोनों को रसायन-विज्ञान का नोबल पुरस्कार दिया गया।

मृत्यु

निरन्तर वैज्ञानिक प्रयोगों में लगे रहने के कारण मैदम क्युरी का स्वास्थ्य गिरता ही चला गया और अन्त में उसे चिकित्सा के लिए एक सैनेटोरियम में रहना पड़ा। यहीं ४-जुलाई, १६३४ को ६७ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई।

जीवन का तत्व

यद्यपि क्युरी दम्पती के जीवन का मुख्य तत्त्व विज्ञान की साधना रहा, परन्तु बारीकी से देखने पर पता लगता है कि उनका जीवन एकांगी नहीं था। जहां एक ओर उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में अपनी सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्तियों को लगा दिया वहाँ दूसरी ओर अपने दाम्पत्य और गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व को भी पूरी तरह निभाया। वह एक आदर्श दम्पती थे और पारिवारिक समस्याओं में उतनी ही दिलचस्पी लेते थे जितनी अपने वैज्ञानिक प्रयोगों में। अपने विवाह के फल उन्हें उतने ही प्रिय थे जितने अपने वैज्ञानिक प्रयोगों के फल। विवाह के बाद दोनों मिलकर अपनी छोटी-सी घर-गिरस्ती चलाते थे। मैदम भोजन बनाती थी तो प्रोफेसर दोनों बच्चियों को खिलाते थे और ऊपर का कामधन्धा करते थे।

उनकी पहली पुत्री का जन्म मैदम क्युरी के उन सबसे महत्त्वपूर्ण तीन बर्षों में हुआ जब वह रेडियम की खोज में तत्पर थीं। एक ओर गृहस्थी का संचालन, दूसरी ओर गर्भधारण, बालिका

का जन्म और लालन-पालन तथा तीसरी ओर वैज्ञानिक अन्वेषण। *मैदम कुरी ने अपनी विज्ञान-साधना में पत्नीत्व और मातृत्व को लोप नहीं होने दिया।*

विनम्र स्वभाव

दोनों प्राणी अत्यन्त सौम्य प्रकृति और विनम्र स्वभाव वाले थे। अहंकार और लोकेषणा तो उनके रंचमात्र भी न थी। इसी कारण विज्ञापनबाजी से वे बहुत घबराते थे। संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार 'नोबल पुरस्कार' दो-दो बार प्राप्त करना किसीके भी दिमाग को आस्मान पर चढ़ाने के लिए काफी है। परन्तु मैदम कुरी को इसका गुमान भी न था। उसके *लिए तो उसका काम ही सब कुछ था। उसकी सफलता ही उसका वास्तविक पुरस्कार था।*

मैदम कुरी का देश-प्रेम

विवाह के फलस्वरूप पोलैंड की कन्या मेरिया स्क्लोदोवस्का के नाम का फ्रांसीसी रमणी मैदम कुरी के नाम में लोप होगया। परन्तु नाम परिवर्तन से हृदय की कोमल भावनाओं का तोपरिवर्तन नहीं होता। मैदम कुरी अन्त समय तक हृदय से पोल ही रही और जन्मभूमि पोलैंड का चित्र सदा उसके अन्तस्तल में विराजमान रहा। उसने अपनी आविष्कृत प्रथम धातु का नाम इसी कारण पोलोनियम रखा। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की कुछ महिलाओं ने उसे जो वार्षिक वृत्ति दी उसे उसने वारसा के रेडियम अस्पताल को दान कर दिया।

कार्यक्षेत्र में विज्ञान की साधना, व्यक्तिगत क्षेत्र में आदर्श दाम्पत्य-व्यवहार और सार्वजनिक क्षेत्र में जननी-जन्मभूमि के प्रति कर्त्तव्यपालन और प्रेम, तीनों के समन्वय की सर्वांगीण सफलता

का इतना उत्कृष्ट और स्फूर्तिदायक उदाहरण दुर्लभ है।

मैदम कुरी के जीवन का चित्रण करने वाली एक रोचक फिल्म भी बन गई है।

: १६ :

जगदीशचन्द्र बसु

"पूर्वी जादूगर"

जिस प्रकार एडिसन को "मेनलो पार्क के जादूगर" की उपाधि दी गई, उसी प्रकार भारत के जगत-विख्यात वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बसु को "पूर्वी जादूगर" की उपाधि से विभूषित किया गया। परन्तु दोनों की "जादूगरी" में उतना ही अंतर है जितना पश्चिम और पूर्व में—जितना पश्चिम और पूर्व की विचार-धाराओं और आदर्शों में। एडिसन पश्चिम के भौतिकवाद का प्रतीक है तो बसु पूर्व की दार्शनिकता का। एडिसन ने प्रकृति की शक्तियों को वश में करके चमत्कारपूर्ण आविष्कार किये, परन्तु बसु ने अपने जादू से प्रकृति के एक महान रहस्य को खोलकर रख दिया। उन्होंने वेदान्त दर्शन के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का वैज्ञानिक प्रमाण दे दिया कि संसार के सारे जड़ और चेतन पदार्थों में एक ही चैतन्यशक्ति अभिव्याप्त है। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नान्यस्ति किंचन।' जिन्हें हम जड़ पदार्थ मानते हैं उन धातुओं पर भी भौतक परिवर्तनों का वैसा ही प्रभाव होता है जैसा चेतन कहे जाने वाले प्राणी वर्ग पर। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि बनस्पति वर्ग जड़ और चेतन पदार्थों की शृंखला के बीच की एक कड़ी

है। पश्चिमी भौतिक विज्ञान की दृष्टि में इस खोज का महत्त्व भले ही उतना न हो जितना एडिसन इत्यादि वैज्ञानिकों के आविष्कारों का, किन्तु भारत को इसका गर्व है कि उसने जगदीशचन्द्र बसु जैसे तत्वदर्शी वैज्ञानिक को जन्म दिया।

बाल्यकाल और शिक्षा

जगदीशचन्द्र बसु का जन्म बंगाल के ढाका जिले के राढ़ीखाल नामक ग्राम में ३० नवम्बर १८५८ ई० को हुआ। उनके पिता भगवानचन्द्र बसु उस समय फरीदपुर में डिप्टी-कलक्टर थे, अतः उनके बाल्यकाल का प्रारम्भिक समय यहीं बीता। भगवानचन्द्र बसु बड़े ही उदारहृदय व्यक्ति थे। उद्योग-धन्धों से उन्हें विशेष प्रेम था और देशी उद्योग स्थापित करने के प्रयत्नों मे उन्होंने अपना सारा धन गंवा दिया। बालक जगदीशचन्द्र को अपने पिता की इन प्रवृत्तियों से बहुत स्फूर्ति और प्रेरणा मिली।

जगदीशचन्द्र को सबसे पहले फरीदपुर की एक देहाती पाठशाला में पढ़ने को भेजा गया। इस सम्बन्ध में वह स्वयं लिखते हैं—"*मुझे देहाती पाठशाला में इसलिए भेजा गया कि मैं अपनी मातृ-भाषा सीखूं, देश के विचारों का अध्ययन करूं और अपने देश के साहित्य द्वारा राष्ट्रीय सभ्यता और आदर्शों का पाठ पढ़ूं। ······ ग्रामीण बच्चों के साथ रहकर मैंने सच्ची मनुष्यता का पाठ सीखा और यहीं मुझे प्रकृति के प्रति प्रेम भी प्राप्त हुआ।*"

प्राथमिक शिक्षा की समाप्ति पर उन्होंने कलकत्ते के सेंट ज़ेवियर स्कूल से एण्ट्रेंस परीक्षा पास की और फिर उसी कालिज से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। कालेज में उनपर विज्ञान के आचार्य पादरी लाफ़ों का प्रभाव पड़ा जिससे विज्ञान के प्रयोगों में उनकी रुचि बहुत बढ़ गई।

इंग्लैंड की यात्रा

बी० ए० पास करने के बाद इन्होंने इङ्गलैंड जाकर सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठने की उत्सुकता प्रकट की। बहुत हठ करने पर इन्हें विलायत तो भेज दिया गया परन्तु दूरदर्शी पिता ने इन्हें सिविल सर्विस की अनुमति न देकर डाक्टरी पढ़ने का आदेश दिया। इङ्गलैंड जाने के व्यय का प्रबन्ध करने के लिए इनकी सहृदया माता ने अपने सारे आभूषण बेच दिये।

इङ्गलैंड पहुँच कर जगदीशचन्द्र बसु लंदन के मेडिकल कालेज में भर्ती हो गए। परन्तु नियति को कुछ और ही करना था। भारत छोड़ने के पूर्व से ही मलेरिया ने इन्हें इतना आक्रांत किया कि यह डाक्टरी की पढ़ाई में बहुत पिछड़ गए और इन्हें विवश होकर भौतिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की शरण लेनी पड़ी। १८८४ ई० में कैम्ब्रिज की परीक्षा पास करने के बाद इन्होंने लंदन विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। इस विद्यार्थी-जीवन में बसु महोदय इङ्गलैंड के प्रमुख विज्ञानाचार्यों के सम्पर्क में आये और उनसे बहुत-सी बातें सीखीं।

भारत लौटना

१८८५ ई० में भारत लौटने पर लार्ड रिपन की सिफारिश से जगदीशचन्द्र बसु को कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालेज में भौतिक विज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त कर दिया गया। उस समय शिक्षा-विभाग का यह नियम था कि हिन्दुस्तानी प्रोफेसरों को अंग्रेज प्रोफेसरों के वेतन का केवल दो-तिहाई वेतन दिया जाता था। चूंकि बसु की नियुक्ति स्थानापन्न थी, अतः इन्हें इस दो-तिहाई का भी आधा वेतन देने का निश्चय किया गया। परन्तु बसु के

आत्माभिमान को यह भेदनीति सह्य न हुई और इसके विरोध में वह तीन वर्ष तक अपने वेतन के चैक को लगातार लौटाते रहे। अंत में शिक्षा-विभाग ने इनकी स्थायी नियुक्ति कर दी और पिछला पूरा वेतन भी दिया।

विवाह और आर्थिक कठिनाई

प्रेसीडेन्सी कालेज में नियुक्ति के लगभग साल भर बाद ही जगदीशचन्द्र बसु का विवाह हो गया। वेतन तो ये लौटा ही देते थे, अतः नवदम्पती को प्रारम्भ से ही आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। कलकत्ते में सस्ता मकान न मिल सकने के कारण इन्होंने नदी के पार चन्द्रनगर में मकान लिया। वहां से ये प्रतिदिन अपने आप नाव खेकर कलकत्ता आते थे और इनकी पत्नी अबला बसु उसे वापस खेकर ले जाती थीं। तीन वर्ष के बाद वे कलकत्ता आगये और अपने बहनोई के साथ मछुआ बाजार में एक मकान लेकर रहने लगे।

वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रारम्भ

आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी बसु ने अपनी वैज्ञानिक अन्वेषण-सम्बन्धी प्रवृत्तियों को कुण्ठित नहीं होने दिया और अपने घर में ही एक छोटी-सी प्रयोगशाला बना डाली। अन्य बातों के अतिरिक्त फोटोग्राफी और संगीत इत्यादि के रिकार्ड तैयार करने में इन्हें विशेष रुचि थी। साथ ही जर्मन वैज्ञानिक हर्ट्ज़ के विद्युत-चुम्बकीय प्रयोगों पर भी इनका ध्यान था। अपने ३५ वें जन्म-दिवस पर बसु ने विद्युत चुम्बकीय तरंगों पर गम्भीरतापूर्वक अनुसंधान प्रारम्भ कर दिया। इन अनुसंधानों के फलस्वरूप उन्होंने कई नई बातें मालूम कीं और बेतार के सम्वाद भेजने का यंत्र भी बनाया। *यदि ये इसी दिशा में*

प्रयत्न करते रहते तो कदाचित रेडियो के आविष्कारकों में मार्कोनी के बजाय जगदीशचन्द्र बसु का ही नाम लिया जाता। जब १८६५ ई० में इङ्गलैंड जाकर उन्होंने अपने बनाये हुए सूक्ष्म यंत्रों का प्रदर्शन किया तो वहां के लब्ध-प्रतिष्ठ वैज्ञानिक भी प्रभावित और आश्चर्य-चकित हुए बिना न रहे। किंतु इन प्रयोगों के दौरान में उन्हें जो नवीन अनुभव हुआ उसके अन्वेषण में वह अपने विद्युत-चुम्बकीय तरंगों-सम्बन्धी सारे सफल प्रयोगों को छोड़ बैठे।

जड़ में चेतनता

जिस समय बसु बेतार की तरंगों को ग्रहण करने वाला अच्छा 'कोहरर' बनाने के प्रयोग कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि कुछ धातुओं में बार-बार विद्युत्-तरंगों के प्रभाव से थकावट-सी उत्पन्न हो जाती है, किंतु कुछ देर आराम देने से वे फिर अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं। इस दिशा में के अनेक प्रयोगों के फलस्वरूप उन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि भौतिक कारणों की जैसी प्रतिक्रिया जीवों में होती है, उससे मिलती-जुलती प्रतिक्रिया धातु इत्यादि जड़ वस्तुओं में भी होती है।

बसु की इस घोषणा ने विज्ञान जगत में धूम मचा दी और १६०० ई० में उन्हें पैरिस की अन्तर्राष्ट्रीय भौतिक-विज्ञान-कांग्रेस में इस विषय पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया।

वनस्पतिवर्ग में प्रतिक्रिया

धातुओं में होने वाली प्रतिक्रिया को देखकर बसु को वनस्पतिवर्ग में भी इसी प्रकार के परीक्षण करने की प्रेरणा हुई और यहां उन्हें और भी चमत्कारी अनुभव हुए। पेड़-पौधों की प्रतिक्रिया को जांचने के लिए उन्होंने कई सूक्ष्म यंत्र बनाये

जिनमें रैज़ोनेएट रिकार्डर, आंसिलेटिंग रिकार्डर, मैग्नेटिक क्रेस्कोग्राफ, फोटो-सिन्थेटिक रिकार्डर, इत्यादि मुख्य हैं। इन यंत्रों की सहायता से बसु ने विज्ञान जगत् को यह सिद्ध करके दिखला दिया कि वनस्पतिवर्ग में भी उसी प्रकार की जीवनधारा प्रवाहित हो रही है जैसी प्राणि-वर्ग में। वनस्पतिवर्ग में भी उसी प्रकार स्पन्दन होता है जैसा जीवों की नाड़ियों में। आकस्मिक घटनाओं, चोटों, गर्मी-सर्दी, विष, मादक द्रव्यों, इत्यादि का उनपर भी प्रभाव पड़ता है। वे भी हर्ष, विषाद, क्लान्तता, भूख, प्यास, इत्यादि का अनुभव करते हैं। संक्षेप में वनस्पतिवर्ग में जीवजन्तुओं की ही भांति संवेदना होती है।

इन सब खोजों का वर्णन बसु ने अपनी 'रिस्पान्स इन दि लिविंग एन्ड नॉन-लिविंग' (जीवों और अजीवों में प्रतिक्रिया) नामक पुस्तक में किया है।

वैज्ञानिकों का विरोध

१६०१ ई० में वसु ने इङ्गलैंड जाकर वहां की प्रमुख वैज्ञानिक संस्था रॉयल सोसाइटी के सामने अपनी खोजों के परिणामों को रखा और प्रयोग करके दिखलाये। एक भारतीय वैज्ञानिक की इस क्रांतिकारी खोज ने इंग्लैंड के कुछ प्रमुख प्राणि-शास्त्रियों के आत्म-सम्मान को शायद कुछ ठेस पहुँचाई; क्योंकि वे वर्षों के परिश्रम से भी इन तथ्यों तक नहीं पहुँच पाये थे। अतः उन्होंने बसु के परिणामों का विरोध किया और उनके प्रयोगों की खिल्ली उड़ानी शुरू की। उन्होंने यहां तक कह डाला कि बसु महोदय इस अनधिकार चेष्टा को छोड़कर विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के अनुसन्धान में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करें। प्रसिद्ध प्राणि-शास्त्री सर जॉन सैण्डरसन इस विरोधी आंदोलन के मुखिया थे। फल यह हुआ कि रॉयल सोसाइटी

ने बसु की खोजों को अपने मुख-पत्र में प्रकाशित करने से इन्कार कर दिया।

छल

एक अंग्रेज वैज्ञानिक ने, जिसने रायल सोसाइटी में बसु के प्रयोग देखे थे, उनके भाषण को एक दूसरी वैज्ञानिक संस्था के पत्र में अपने ही नाम से छपवा दिया। बसु को इस बात का पता तब लगा जब लीनियन सोसाइटी ने उनके अन्वेषणों की मौलिकता से प्रभावित होकर उन्हें आग्रहपूर्वक अपनी ओर से प्रकाशित किया। अंग्रेज वैज्ञानिक के इस छलपूर्ण व्यवहार से बसु को अत्यन्त क्षोभ हुआ और उन्होंने लीनियन सोसाइटी से इस मामले में जांच करने का अनुरोध किया। फलस्वरूप जांच कमेटी नियुक्त की गई, जिसने बसु की मौलिकता को स्वीकार किया और अंग्रेज वैज्ञानिक के छल की भर्त्सना की।

विदेश यात्राएं और सम्मान

अपनी नवीन खोजों के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के सन्देह को मिटाने तथा अपने प्रतिपादित सिद्धांतों का अकाट्य प्रायोगिक प्रमाण देने के लिए बसु ने निरन्तर प्रयत्न जारी रखे। उन्होंने अपने पुराने यंत्रों में अनेक सुधार किये और कई नये सूक्ष्म यंत्र बनाये जिनका उल्लेख किया जा चुका है। अन्त में वैज्ञानिकों को इनका लोहा मानना पड़ा और जिस रॉयल सोसाइटी ने दो बार इनके अन्वेषणों का विवरण अपने मुख-पत्र में प्रकाशित करने से इन्कार किया था, उसीने बाद में इन्हें अपना फेलो नियुक्त किया।

१६०३ ई० में बसु ने इंग्लैंड और यूरोप की यात्रा की और १६१५ ई० में आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों ने इन्हें अपने यहां भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया। इंग्लैंड में

अपना कार्य समाप्त करके ये यूरोप और अमेरिका गये जहां की प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं ने इनके प्रति अत्यन्त सम्मान प्रकट किया। इस यात्रा से बसु ने सारे वैज्ञानिक संसार में ख्याति प्राप्त की और राष्ट्र संघ (लीग आफ नेशन्स) ने इन्हें अपनी एक उप-समिति का स्थायी सदस्य निर्वाचित किया। इस समिति की बैठकों में भाग लेने के लिए इन्हें प्रतिवर्ष यूरोप जाना होता था। फ्रांस की भौतिक विज्ञान सोसाइटी ने भी बसु को अपनी कौंसिल का सदस्य निर्वाचित किया।

उपाधियां

यद्यपि जगदीशचन्द्र बसु की प्रतिभा और योग्यता किसी डिग्री या सरकारी उपाधि की मोहताज नहीं थी, परन्तु इसके प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करने के लिए देश और विदेश के कई विश्वविद्यालयों ने इन्हें डाक्टर की डिग्रियां प्रदान कीं और भारत सरकार ने इन्हें क्रमशः सी० आई० ई०, सी० एस० आई और 'सर' की उपाधियों से विभूषित किया।

अवकाश-ग्रहण

१६१५ ई० में ५७ वर्ष की आयु में बसु ने प्रेसीडेंसी कालेज से अवकाश ग्रहण किया, परन्तु सरकार ने इन्हें आनरेरी प्रोफ़ेसर का पद देकर जीवनपर्यन्त पेंशन के बजाय पूरा वेतन दिया। अवकाशप्राप्ति के पूर्व सरकार को यह भी पता लगा कि बसु महोदय शिक्षा-विभाग में सबसे ऊंचा वेतन पाने के अधिकारी होगये थे, परन्तु किसी भूल के कारण वह इससे वंचित रहे। अतः यह भूल सुधार दी गई जिसके फलस्वरूप बसु को पिछले वर्षों की घटी की एक अच्छी रकम प्राप्त हो गई।

अन्वेषण-भवन की स्थापना

यद्यपि बसु ने अपने घर में ही एक छोटी-सी काम-चलाऊ

प्रयोगशाला बना रखी थी, परन्तु एक अच्छी प्रयोगशाला का अभाव उन्हें प्रारम्भ से ही खटक रहा था। अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्होंने एक अन्वेषण-भवन स्थापित करने का पूरा निश्चय कर लिया। वेतन की घटी का जो रुपया मिला था वह उन्होंने पहले ही इस मद में जमा करा दिया था। अब एक मित्र ने भी इस कार्य के लिए धन दिया। कुछ चंदा एकत्र किया गया और सरकार ने वार्षिक सहायता देने का वचन दिया! अतः बसु ने अपने मकान के पास एक जमीन मोल ले कर कार्य आरम्भ कर दिया। इस प्रकार ३० नवम्बर १६१७-ई० को, बसु की ५६ वीं वर्ष गांठ के अवसर पर, "बसु रिसर्च इन्स्टीट्यूट" का उद्घाटन हो गया।

इस अन्वेषण-भवन में अनेक वैज्ञानिक बसु की खोजों को आगे बढ़ाने में लगे हुए हैं। बसु के जीवन-काल में वीयना के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर मॉलिश ने इस इन्स्टीट्यूट में रहकर छै महीने कार्य किया था। वनस्पति वर्ग में होने वाली प्रतिक्रियाओं को बसु-निर्मित यन्त्रों की सहायता से प्रत्यक्ष देख कर प्रो० मॉलिश ने लिखा था—"ये सब परियों की कहानियों से भी अधिक आश्चर्यजनक है; परन्तु जिन्हें इन प्रयोगों को देखने का अवसर मिला है उन्हें पूरा विश्वास हो गया है कि ये प्रयोगशाला के चमत्कार हैं जिनके द्वारा प्राणीवर्ग में होने वाली अदृश्य प्रतिक्रियाओं का रहस्योद्घाटन हो जाता है।"

अन्तकाल

१ दिसम्बर १६२८ ई० को बसु की सत्तरवीं वर्ष-गांठ मनाई गई। इस अवसर पर उन्हें देश और विदेश में बधाई के अनेक सन्देश मिले। इतनी आयु हो जाने पर भी वह निरन्तर अन्वेषण में लगे रहते थे और अन्त समय तक कार्य में संलग्न

रहे। उनकी मृत्यु गिरिडीह में २३ नवम्बर १९३६ ई० को हुई।

बसु की महानता

बसु की वैज्ञानिक देन ही उन्हें संसार के महापुरुषों की श्रेणी में रखने के लिए पर्याप्त है। किन्तु यह तो उनके जीवन का केवल एक पहलू है। वह कोरे वैज्ञानिक ही नहीं बल्कि एक लेखक और कलाकार भी थे। उनकी मृत्यु पर सर माईकेल सैडलर ने कहा था—"वह प्राणीशास्त्रज्ञों में कवि थे।" उनकी रचनाएँ बंग-भाषा के उत्कृष्ट साहित्य का नमूना हैं। उनके घर की और बसु-इन्स्टीटयूट की दीवारें गगनेन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बसु, आदि चित्रकारों की कृतियों से अलंकृत हैं। *और इन सबसे ऊपर उनका वह भारतीय दृष्टिकोण है जिसने उच्चतम हिन्दू-दर्शन के साथ विज्ञान का समन्वय करके दिखला दिया।*

व्यक्तिगत जीवन

बसु का जीवन अत्यन्त सादा और उनका चरित्र अत्यन्त निर्मल था। एक प्रकार से वह त्याग और तपस्या की मूर्ति थे। *पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा के सम्पर्क में रहकर भी उनकी पूर्वीयिता अक्षुण्ण बनी रही।* उनके कोई सन्तान नहीं हुई; परन्तु उन्हें और उनकी सती-साध्वी पत्नी को कभी इसका खेद नहीं हुआ। पूत कपूत निकल जाय तो पिता के नाम को कलंकित कर दे, परन्तु बसु के अनेक शिष्य सच्चे सपूतों की तरह उनकी कीर्ति और उनके कार्य को अग्रसर करने में तत्पर हैं।

दानशीलता

बसु की दानशीलता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वह अपनी आय का केवल पंचमांश अपने व्यक्ति-

गत उपयोग में लाते थे, बाकी सब विद्यार्थियों और शिक्षा-संस्थाओं को बांट देते थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में १५-लाख से अधिक रुपया सार्वजनिक कार्यों के लिए दिया। मृत्यु के उपरान्त भी वह अपनी बची-खुची सम्पत्ति वैज्ञानिक अन्वेषण, मद्य-निषेध, साहित्योन्नति, स्त्री-शिक्षा, पुस्तकालय, इत्यादि विविध कार्य के लिए दान करने की वसीयत कर गये। इससे उनके उदार हृदय और विस्तृत दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

बसु ने वैज्ञानिक जगत् में भारत का मस्तक ऊंचा करके दिखला दिया और बसु रिसर्च इस्टीट्यूट के रूप में अपना एक ऐसा स्मारक छोड़ दिया जो भारत के लिए एक महान् गौरव की वस्तु है।

का

चुना हुआ साहित्य